THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला—ग्रंथांक—१

जैन-संस्कृति का राजमार्ग

[जैन-सस्कृति का परिचय देने वाले प्रवचनो का संग्रह]

प्रवचनकार

श्री मज्जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशलाल जी म० सा०

संपादक

श्री शांतिचंद मेहता एम० ए० एल-एल० बी०

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला, बीकानेर

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

प्रकाशक :
मंत्री—श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
रागडी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : १९६४

मूल्य :
दो रुपये पचास नये पैसे

मुद्रक :
रामस्वरूप शर्मा,
राष्ट्र भारती प्रेस
कूचा चेलान
दिल्ली—६

प्राक्कथन

श्रीमज्जैनाचार्य श्री गणेशलाल जी म० सा० श्रमण-सस्कृति के ज्योति-पुञ्ज है। उनके प्रवचनो का यह सग्रह 'जैन सस्कृति का राजमार्ग' आद्योपान्त देखा। जैन-दर्शन के तात्त्विक विवेचन के साथ-साथ जैन-संस्कृति का स्पष्ट एव प्रेरणादायक निरूपण इन प्रवचनो द्वारा हुआ है। इन प्रवचनों मे स्पष्ट, सरल शैली मे ज्योतिपुञ्ज आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज ने अपनी साधना की अनुभव प्रणीत चेतना को अभिव्यक्त किया है। आचार्य श्री ने अपने जीवन की निस्पृह साधना द्वारा जो सत्यानुभव किया, उसी के उद्‌गारो का यह उपयोगी समुच्चय है।

भारतीय धर्मों और धार्मिक संस्कृतियो का उद्‌भव मनुष्य की भावना के निरन्तर उद्वेग के शमन के लिए ही हुआ है। आत्म-शुद्धि और आत्म-लाभ का मूल आश्रय इतना ही है कि मनुष्य सत्य, शाश्वत नियमों के अनुसार अपना जीवनयापन करे और अविचल पूर्णत्व प्राप्त करे। इस प्रयास का एकमात्र आधार धर्म है, नियम-ज्ञान नही। नियम ज्ञान होते हुए भी मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियो के कारण अनियमित हो जाता है। अनियमित होने की मनुष्य की इस स्वाभाविक कमजोरी के निराकरण के लिए धार्मिक प्रेरणा की आवश्यकता रहती आई है। समाज-शास्त्रियो को अभी यह जानना चाहिए कि मनुष्य ज्ञान और विद्या प्राप्त करते हुए भी 'पालन' के लिए क्षमतावान् किस प्रकार होता है। जीवन की सभी कोमलताएँ अनुभव से प्रसूत होती है और क्षमता का यह प्रसव धर्म-पालन द्वारा ही होता है।

धर्म भावना अपने अत्यन्त सुघड़ स्वरूप मे श्रद्धा है। बुद्धि-प्रक्रिया जीवन के भोग का उत्तेजन तो करती है, परन्तु पूर्णत: शमन नही कर पाती। यह शमन तो धर्म भावना द्वारा ही हो पाता है। मनुष्य अनन्त और असकीर्ण शाश्वत जीवन की कामना करता है, जिसकी तृप्ति धर्म भावना

: :

द्वारा ही होती है। इस अतीन्द्रिय धारणा के स्वानुभव के लिए हमे ज्ञान, विद्या और विज्ञान एक सीमा के बाद आगे नहीं ले जा सकते हैं। धर्म भावना ही हमें इस क्षेत्र में प्रवेश देती है और यही कारण है कि ससार की अतुल्य ऋद्धि-सिद्धियो के रहते हुए भी धार्मिक महापुरुषो का प्रभाव सदियो तक मनुष्य के समूहो मे घर किये रहता है।

आचार्य श्री गणेशलाल जी म० के प्रवचनो मे उक्त धर्म भावना का व्यवहारिक प्रतिपादन किया गया है और जैन सस्कृति के सच्चे स्वरूप को सरलता से चित्रित किया है। साथ ही एक आकर्षण यह है कि इनमें विद्वत्ता का अभिमान कहीं नहीं है। सिर्फ जीवन के अपने अनुभवो का कथन है। जैन दर्शन के आधारो को अपने प्रवचन के प्रत्येक शब्द मे प्रतिफलित करने का प्रयास किया है।

आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज का व्यक्तित्व एक सत्यान्वेषक का व्यक्तित्व है। जैन दर्शन का उनका ज्ञान और उपदेश सासारिको के पथ प्रदर्शन के उपयुक्त है एवं आचार आदर्श जीवन के सत्य को प्रगट करता है। यही कारण है इस भौतिकवाद के वातावरण में आज भी हम आप श्री जैसे आचार्य के दर्शन कर सकते हैं।

—जनार्दनराय नागर

उपकुलपति राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशलालजी म० सा० द्वारा दिये गये अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवचनो मे जैन-सस्कृति से सम्बन्धित प्रवचनो का यह सग्रह "जैन-सस्कृति का राजमार्ग" के नाम से प्रस्तुत करते हुए हमे हर्ष हो रहा है। इन प्रवचनो मे जैनधर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो की सरल सुबोध भाषा मे विवेचना की गई है और जिनकी मौलिकता गभीरता एव विषदता का मूल्याकन पाठक स्वय कर सकेगे।

आचार्यश्री के अनमोल प्रवचन जनमानस मे जैनसस्कृति की महत्ता का प्रचार करने मे सक्षम हैं, इसी भावना से प्रेरित होकर इस प्रवचन संग्रह के प्रकाशन मे निम्नलिखित विदुषी बहिनो ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है—

श्रीमती भूरीबाईजी सुराना, रायपुर ५००)

श्रीमती उमरावबाईजी मूथा, मद्रास ५००)

इसके लिए आप दोनो धन्यवादाई हैं और आशा है कि आपकी भावना से प्रेरणा लेकर अन्य बन्धु भी साहित्य प्रचार मे आर्थिक सहयोग प्रदान करेंगे।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आचार्यश्री के प्रवचन साधु-भाषा मे होते थे। फिर भी प्रमादवश संपादक या सग्राहक द्वारा भाव या भाषा सम्बन्धी कोई भूल हो गई हो तो उसके उत्तरदायी संपादक या सग्राहक है और ज्ञात होने पर आगामी सस्करण मे सुधार हो सकेगा।

पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के लिए राजस्थान के जाने-माने साहित्यज्ञ श्री जनार्दनरायजी नागर के हम सधन्यवाद आभारी हैं।

इस पुस्तक का प्रकाशन एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्यश्री के आदर्शो के स्मरण को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आप श्री की स्मृति मे स्थापित होने वाली 'श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला' का शुभा-

रम्भ आप श्री के महत्त्वपूर्ण प्रवचनो से हो रहा है। जिससे हमारी यह भावना साकार हो रही है कि ग्रथमाला के उद्देश्य—जैनधर्म और आचार के शाश्वत सिद्धान्तो का लोकभाषा मे प्रचार करना—मे हम सफलता प्राप्त करेंगे।

निवेदक—
जुगराज सेठिया, मंत्री
सुन्दरलाल तातेड़, सहमंत्री
महावीरचन्द धाड़ीवाल, सहमत्री
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर।

प्रकाशन में सहयोगिनी बहिनों का परिचय

श्रीमती भूरीबाईजी सुराना, रायपुर—श्रीमती भूरीबाईजी सुराना रायपुर स्वर्गीय श्री अगरचन्दजी सुराना की धर्मपत्नी हैं। आप रायपुर स्था० जैन महिला संघ की उपाध्यक्षा हैं। जीवन सादा और सरल है। आपके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। दोनो पुत्र श्री चम्पालालजी व सोहनलालजी धर्मप्रेमी, समाजसेवी, कर्मठ कार्यकर्ता और सफल व्यापारी हैं। आपके फर्म का नाम 'अगरचन्द चम्पालाल' और 'अगरचन्द सोहनलाल' है। रायपुर मे कपड़े के सबसे बड़े व्यापारी हैं। आगर एजेन्सी मे मिलो के साथ कपड़े का थोक व्यापार का काम होता है। श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ को आपका और आपके सुपुत्रो का तन-मन-धन से सक्रिय सहयोग प्राप्त है।

श्रीमती उमरावबाई जी मूथा, मद्रास—श्रीमती उमरावबाई जी मूथा स्वर्गीय श्री सज्जनराज जी मूथा मद्रास की धर्मपत्नी हैं। छोटी उम्र मे ही आपको वैधव्य का दुःख सहना पड़ा। आपका जीवन धार्मिक, सरल और सादा है। आपका दयालु स्वभाव और स्वधर्मी वात्सल्य प्रशसनीय है। आपके ससुर श्रीमान् बीजराजजी सा० मूथा का श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ को तन-मन-धन से सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहता है।

संघ की ओर से हम आपका आभार मानते हैं और आशा है आगामी प्रकाशनो के लिए आपका सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा।

मंत्री, श्री अखिल भारतवर्षीय
साधुमार्गी जैनसंघ

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
१. जैन-सस्कृति की विशालता	...	८
२. महावीर का सर्वोच्च स्वाधीनता	...	१९
३. जैन अहिंसा और उत्कृष्ट समानता	...	२६
४. स्याद्वाद सत्य का साक्षात्कार	...	३५
५. कर्मवाद का अन्तर्रहस्य	...	४५
६. अपरिग्रहवाद याने स्वामित्त्व का विसर्जन	...	५७
७. शास्त्रो के चार अनुयोग	...	६१
८. जैन दर्शन का तत्त्ववाद	...	८०
९. सर्वोदय-भावना का विस्तार	...	९०
१०. जैन धर्म का ईश्वरवाद कैसा ?	...	९८
११. जैन सिद्धान्तो मे सामाजिकता	...	१०९

जैन-संस्कृति की विशालता

मैं आप के समय आज जैन दर्शन एव सस्कृति की विशालता पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ। यह समझने योग्य बात है कि जहाँ अन्य दर्शन वा सस्कृतियाँ एक खास घेरे मे अपने को सीमित करती हुई चली हैं वहाँ जैनदर्शन का आधार अत्यन्त व्यापक व गुणो पर आधारित रहा है इसमे कभी सकुचितता व कुत्सित साम्प्रदायिकता का प्रवेश नही हो पाया। मूलमत्र नवकार मत्र से लेकर ऊँचे-से-ऊँचा सिद्धात आत्मा के विकास की बुनियाद को लेकर निर्मित हुआ है।

जनदर्शन मे न तो व्यक्ति-पूजा को महत्त्व दिया गया है, न ही सकुचित घेरो मे सिद्धान्तो को कसने की कोशिश की गई है। आत्म-विकास के सदेश को न सिर्फ समूचे विश्व को वल्कि समूचे जीव-जगत् को सुनाया गया है।

'जैन' शब्द का मूल भी इसी भावना की नीव पर अकुरित हुआ है। मूल सस्कृत धातु है 'जि', जिसका अर्थ होता है—जीतना। जीतने का अभिप्राय कोई क्षेत्र या प्रदेश जीतना नही वल्कि आत्मा को जीतना, आत्मा की बुराइयो और कमजोरियो को जीतना है। आप अभी वालक है, फिर भी कभी अवश्य महसूस करते होगे कि जब कभी आप झूठ वोलो या कि कुछ चुरा लो तो आपका मन कांपता होगा, फिर उस गलती को सोचकर एक घृणा पैदा होती होगी और उसके वाद आप लोगो मे से जो मजवूत इच्छाशक्ति के छात्र होगे, वे मन मे निश्चय करते होगे कि अब आगे से कभी ऐसी वुराई नही करेगे। यही एक तरह से जीतने की प्रक्रिया है।

मनुष्य की आत्मा मे वातावरण से, सस्कार से यानी कर्म-प्रभाव से पाप कार्य करने की प्रवृत्ति होती है तो उस समय उसकी सम्यक् प्रतिक्रिया रूप जिस उत्थानकारी भावना का विस्तार होने लगता है और ज्यो-ज्यो वह

भावना बलवती होती जाती है तो समझना चाहिए कि उसकी आत्मा मे जीतने का क्रम शुरू हो गया है। मन के विकारो को नष्ट करते हुए ज्यो-ज्यो आत्म-विकास की सीढियाँ ऊपर चढते जाते है, जीतने का क्रम भी ऊपर चढता जाता है और एक दिन उस भव्य आत्मा का मुक्ति के महाद्वार मे प्रवेश होता है।

तो यह है हमारे यहाँ विजय का स्वरूप, जिसमे विजेता आत्मा होता है किन्तु विजित कोई नही होता। इस प्रकार जो अपने कर्मशत्रुओ पर, विकारो पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर ले वे 'जिन' कहलाते है। विजय के इस क्रम को हमारे यहाँ गूँथा गया है गुणस्थान की श्रेणियो मे। आत्मा की विचार-सरणियो के साथ गुणस्थान की श्रेणियाँ चलती है, जिनका चरम विकास 'जिनत्व' मे होता है।

ऐसे 'जिन' भगवान ने चरम विकास के धरातल पर चढकर अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र से उद्भूत जिन सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला, वे कहलाये जैन-सिद्धान्त और उनके अनुयायी जैन। तो जैन का सम्बन्ध है अपने आत्म-शत्रुओ पर विजय से, अपनी आत्मा के गुणो के विकास मे। इसलिए जैन की कोई जाति, कोई वर्ग या कोई घेरे वाली बात नही है। जैन कोई भी व्यक्ति हो सकता है जो अपनी कोशिशो को अपने मन को ऊपर उठाने मे लगाए, आन्तरिक गुणो को चमकाए। जैनत्व का सम्बन्ध किसी खास क्षेत्र, व्यक्ति या समूह से नही, बल्कि मुख्यत गुणो से है और गुणो का क्षेत्र सदैव सर्वव्यापी और विशालतम होता है।

इसलिए जैनधर्म को समझने के लिए सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि जैनधर्म के सिद्धान्तो मे साम्प्रदायिकता को कतई स्थान नही है। अमुक समाज या व्यक्ति ही इसके पालन करने का अधिकारी है—इस क्षुद्रवृत्ति से अछूता रहना ही यह दर्शन सबसे पहले सिखाता है। वह धर्म, धर्म नही जो विकारी भेदभाव की नीव पर खडा हो। धर्म का सम्बन्ध जाति या देश मे नहीं, गुणो मे होना चाहिए। जो व्यक्ति अपने जीवन मे

धार्मिक गुणो का आचरण करता है, वही सच्चे अर्थो मे धार्मिक है, वरना यह कहना गलत होगा कि एक जैन इसलिए जैन है कि उसने जैन घराने मे जन्म तो ले लिया है किन्तु जैनत्व का पालन नही करता।

स्मरण रखे कि जब-जब किसी भी धर्म या सस्कृति ने अपने अनुयायियो को यथायोग्य मुक्त चिन्तन का अवसर नही दिया और उन्होने कथित सिद्धान्तो के कठोर घेरे मे बाँधे रखने का प्रयास किया तो वहाँ कदाग्रह फैला है। जहाँ बिना दिमाग के दायरे को खोले हुए एक हठ की जाती है, एक गलत आग्रह बनाया जाता है, वहाँ हमेशा घेरेबन्दी का कदाग्रह फैलता है और कुत्सित साम्प्रदायिकता पनपती है। क्योकि कुत्सित साम्प्रदायिकता की बुनियाद गुणो पर नही बल्कि, बेसमझी की गुटबन्दी पर होती है और गुटबन्दी खडी होती है व्यक्ति-विशेष के आश्रय पर। क्योकि एक व्यक्ति या तो अपनी कोई जिद पूरी करना चाहता है या अपने आग्रह को दूसरो पर बलात् लादना चाहता है, तब वह अपने प्रशसको का एक गुट बनाता है और वह गुट सिद्धान्तो को नही देखता, गुणो को नही परखता, सिर्फ अपने नेता का कदाग्रह पूरा करना चाहता है और उसी प्रयोजन से हरसभव प्रयत्न करना चाहता है। यही है साम्प्रदायिकता की बुनियाद, जिसमे गुणो का कोई सम्बन्ध नही होता। क्योकि जो प्रवृत्ति गुणो पर आश्रित होती है वहाँ कभी भी गुटबन्दी नही हो सकती। जैनधर्म गुणो के कारण ही व्यक्ति को महान समझता है, जन्म व जाति की दृष्टि मे नही। उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि जाति से नही, वरन कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही ब्राह्मण और कर्म से ही वैश्य व शूद्र माना जाना चाहिए। कितना विशाल है जैनदर्शन जहाँ व्यक्ति का व्यक्ति के नाते कोई मोल–महत्त्व नही, महत्त्व है तो उसके विकास का, उसके गुणो का।

एक महत्त्व की बात बताऊँ कि जैन दर्शन व सस्कृति के प्रणेताओ व प्रवर्तको मे भी कितनी विशाल उदारता थी। किसी भी अन्य दर्शन का वन्दना-मत्र लीजिए, उसमे नाम से किसी-न-किसी महापुरुष की वन्दना की गई होगी, किन्तु जैन-दर्शन का वन्दन-मत्र जो उसका महामत्र् नवकार

मत्र कहलाता है, इस भावना का प्रतीक है कि निजत्व का व्यामोह जैन-सस्कृति को कभी छुआ तक नही है। देखिए यह है हमारा नवकार मत्र—

"णमो अरिहंताण"—उन महापुरुषो को नमस्कार है जिन्होने राग-द्वेष आदि शत्रुओ को नष्ट कर दिया है और चरम वीतरागता को प्राप्तकर परिपूर्ण समदर्शी सर्वज्ञ बन गए है। इसमे भगवान ऋषभदेव या महावीर किसी का नाम से उल्लेख नही है। वह आत्म-विजेता कोई भी हो सकता है। जैन तो इस गुणधारी सभी महापुरुषो को नमस्कार करना चाहता है।

"णमो सिद्धाण"—उन महापुरुषो को नमस्कार है जिन्होने अपने आत्म-विकास को सिद्ध बना दिया है, जो मुक्तिगामी हो गए है, जो निराकार, अव्याबाध सुख वाले है।

"णमो आयरियाण"—उन सभी आचार्यों को नमस्कार है जो अपने पच महाव्रत आदि ३६ विशिष्ट गुणो के आधार पर आचार्य बने है और आचार्यत्व को निभाते है।

"णमो उवज्झायाण"—उन उपाध्यायो को नमस्कार है जो पच महाव्रत आदि गुणो से युक्त होकर मुख्यत वीतरागप्ररूपित शास्त्रो के अध्ययन--अध्यापन मे सलग्न हो।

"णमो लोए सव्व साहूण"—लोक (ससार) मे सर्व साधुओ को नमस्कार है। साधु वह जिसमे साधुत्व—सयम और साधना के गुण हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य, उपाध्याय या साधु सभी मे गुणो का समावेश मानकर वन्दना की है।

जैनधर्म उस सृष्टिकर्तृत्व मे भी विश्वास नही रखता, जहाँ यही मान्यता हो कि ईश्वर तो एक है और वह हमेशा ईश्वर ही रहेगा, दूसरे प्राणी चाहे विकास की किसी भी सीढ़ी पर चढ जाएँ, ईश्वरत्व प्राप्त नही कर सकते। जैनधर्म इसे एक तरह से दासता मानता है कि प्रत्येक प्राणी

जीवन पर्यन्त दास ही बना रहेगा और ईश्वर से मिन्नतें ही करता रहेगा। उसे उन मिन्नतों के बदले मे कुछ सुख-सुविधाएँ तो मिल जाएँगी किन्तु वह रहेगा गुलाम-का-गुलाम ही।

जैनदर्शन अपने उत्थान-पतन का कर्ता एवं अपने सुख-दुःख का प्रणेता अपने ही आत्मा को मानता है। वह ईश्वर और भक्त के बीच हमेशा स्वामी-सेवक की खाई बनाकर नही रखता। वह आत्मा के निज के पराक्रम को प्रज्ज्वलित करता है और निष्ठा के साथ यह कहना चाहता है कि प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा की शक्ति छिपी हुई है। आवश्यकता है कि उस शक्ति पर जो विकारो का मैल चढा हुआ है, उसे सयम और साधना से धो दिया जाय तो विकास की वह उच्चता उस आत्मा को भी मिल जाएगी जिस उच्चता पर हम ईश्वर को प्रतिष्ठित मानते है। तब वह आत्मा भी ईश्वरत्व मे परिणत हो जायगा। अर्थात् ईश्वरत्व आत्म-विकास की वह चरम उच्चता है जो सभी भव्य आत्माओ को प्राप्य है और उसी को आदर्श मानकर ससार मे साधना-मार्ग की गतिशीलता बनी रहनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा विकास करता हुआ ईश्वर बन सकता है और वह ईश्वर बनता है तो दूसरो पर स्वामित्व रखने के लिए नही किन्तु अपने ही आत्म-स्वरूप की परम उज्ज्वलता को प्रकट करने के लिए। ऐसी विचारणा अवश्य ही मनुष्य की रचनात्मक व साधनाशील प्रवृत्तियो को जागृत करती है कि वह भी ईश्वर बन सकता है। इसके विपरीत अन्य दर्शनो मे रही ईश्वर की धारणा मनुष्य को शिथिल बनाती है, क्योकि वह हमेशा भक्त ही रहेगा, दास ही रहेगा तो उसकी साधना को बल और उत्साह कहाँ से मिलेगा?

जैनदर्शन की मूलाधार श्रमण-संस्कृति है। 'समण' शब्द प्राकृत का है। संस्कृत मे इसके तीन रूप होते है—श्रमण, समन और शमन। श्रमण शब्द "श्रमु तपसोखेदे च" धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। इसलिए जैन-संस्कृति की मूल निष्ठा श्रम है। नियति—भाग्य के आश्रय पर बैठने वाले निश्चित रूप से अकर्मण्य बनते है और अपने पतन को निकट लाते है। यदि अपनी उन्नति करना चाहते हो तो पुरुषार्थ करो, श्रम मे

इतने तल्लीन हो जाओ कि किसी तरह पराश्रयी न रहकर स्वाश्रयी बन सको और यह जो पुरुषार्थ—श्रम— करना है, किन्ही दूसरो को दवाकर अपना सिर ऊँचा करने के लिए नही अथवा दूसरो का शोषण करके अपना पेट भरने के लिए नही वल्कि अपने आन्तरिक शत्रुओ एव मनोविकारो को नष्ट करने के लिए। जव आत्मा मे श्रमण-वृत्ति जागती है तो वह अपने आपको व्यापक हित के लिए विसर्जित कर देता है, अपना सुख करुणा और सावना मे विखेर देता है। वस्तुत पुरुषार्थ ही मानव को प्रगति के पथ पर अग्रगामी वनाता है। जो व्यक्ति स्वावलम्बी रहता है, वही सुखी बनता है और जो पराधीन है वह चाहे सारी सुख-सामग्री के बीच खडा है, तो भी सुखी नहीं हो सकता। जो सस्कृति स्वतन्त्रता को आधारस्तम्भ बनाकर खडी है, उसकी व्यापकता एव विशालता की तुलना किसी अन्य छिछली सस्कृतियो से नही की जा सकती। जैन-सस्कृति का मूलाधार 'श्रमण' है।

'समण' का दूसरा शब्दार्थ होता है—समन। इसका अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति साम्यभाव रखना। सबके सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझकर उनके प्रति व्यवहार करना। कष्ट मे पडे हुए प्राणी को देखकर उसे कष्ट से मुक्त करना और उसकी रक्षा करना—यह सहज वृत्ति आत्मा मे जागे उसे समन कहा है। इसकी सच्ची कसौटी आत्मानुभव है। यह विचारणा मनुष्य को आत्मिक सौन्दर्य का दर्शन कराने वाली है। क्योकि इस विचारणा के अनुसार आचरण करने वाला कोई भी क्यो न हो, उसके मन मे अशान्ति का विषैला वातावरण कभी भी पैदा नही होगा। जव वह किसी प्राणी को कष्ट से मुक्त करेगा या करुणा कर के सहयोग देगा तो उसके मन मे एक असीम शान्ति का अनुभव होगा जो उसे सुखदायक लगेगा।

तीसरा शब्दार्थ है—शमन अर्थात् दबाना। दवाना है अपने कुविचारो एव अपनी कुप्रवृत्तियो को ताकि सद्वृत्तियाँ पनपें और आत्मा मे सुविचार पैदा हो। जिस व्यक्ति मे अपने व्यवहार का ज्ञान होगा वही व्यक्ति दूसरो के प्रति सद्व्यवहार कर सकेगा और असद्व्यवहार का शमन करेगा। किन्तु जिसका अपनी वृत्तियो या प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण नही है, जीवन की

गतियो पर अधिकार नही है, वह अपने जीवन मे क्षुद्र ही बना रह जाता है। आज मनुष्यो की अधिकतर यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे अपनी ओर लक्ष्य न देकर दूसरो को नियन्त्रित करने का ज्यादा ख्याल करते है और इसी मे पतन हो रहा है। अगर अपने आप पर नियन्त्रण रखने की पहले कोशिश की जाय तो स्वय उसकी प्रवृत्तियाँ जब सन्तुलित हो जाएँगी तो सारे समाज मे ही स्वयचालित नियन्त्रण व सन्तुलन होने लगेगा और वह कष्टप्रद नही रहेगा। जिसने अपने जीवन पर अधिकार कर लिया, भावना की दृष्टि से उसका जगत पर अधिकार हो जाता है।

तो जैन-सस्कृति तीन प्रमुख बिन्दुओ पर आधारित है और वे तीन बिन्दु है—श्रम, समता और सद्वृत्ति। श्रमण शब्द का सार इन तीनो बिन्दुओ मे है। एक तरह से श्रम सत्य है, समता शिव है और सद्वृत्ति सौन्दर्य है। ये तीनो सीढियाँ जीवन को पूर्ण बनाने वाली सीढियाँ है और जैन-सस्कृति जो गुणो पर आधारित है, प्रेरणा देना चाहती है कि आपका विकास आपकी मुट्ठी मे है। सकल्प करो, निष्ठा से श्रम—पुरुषार्थ मे जुट जाओ। आपकी विशाल शक्तियो को प्रकट होने से कोई नही रोक सकेगा। उन शक्तियो के प्रकाश मे आपको अपनी आत्मा का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देगा और तभी आप दूसरी आत्माओ मे भी समानता देख सकेगे और एक साम्यवृत्ति जागेगी। सभी के प्रति जागी हुई समानता की भावना आपको सदैव सद्वृत्तियो की राह पर बलपूर्वक ले जाएगी और आप अनुभव करेगे कि श्रम, समता और सद्वृत्ति की सीढियाँ आपके जीवन को ऊपर उठाती जा रही है।

यह है जैन-सस्कृति की विशिष्टता जिसमे गुणो का ही महत्त्व है। जिसमे गुण है, वह किसी भी अवस्था मे हो—गरीब या धनी, साधु या गृहस्थ—पूजनीय है। जिसमे गुण नही, जो जीवन-कला को नही जानता, वह यदि साधुवेष भी धारण किये हुए हो तो भी वन्दनीय या पूजनीय नही हो सकता। आडम्बर व्यक्ति की कसौटी नही, वह कसौटी तो उसके गुणावगुण है। श्रमण शब्द का अर्थ यही है कि श्रममय जीवन यापन

करना, प्राणिमात्र पर साम्यदृष्टि रखना और अपने आत्म-विकास में बाधक रूप असत् प्रवृत्तियों का शमन करना— यही साधुत्व है।

इस सिद्धान्त की वास्तविकता को भी समझ लीजिए कि गुणों की स्थिति और गुणों का विकास भी मूलत भावना पर ही टिका रहता है। गुणों के पक्ष में भावनाओं का ढलान और निर्माण यदि मजबूत बन जाय तो फिर उसके कार्यान्वय में कभी दुर्बलता नहीं आ सकेगी। इसलिए भावनाओं के निर्माण की पहली आवश्यकता है।

हमारे यहाँ एक कपिल केवली का वृत्तान्त आता है। कपिल एक गरीब ब्राह्मण था, इतना गरीब कि वह अपने खाने-पीने के साधन भी मुश्किल से ही जुटा पाता था। उस नगर में राजा प्रात सर्वप्रथम दर्शन देने वाले ब्राह्मण को एक स्वर्णमुद्रा दान में देता था। तीन दिन से भूखा-प्यासा कपिल दर्शन देकर स्वर्णमुद्रा प्राप्त करने की अभिलाषा से रात को १२ बजे ही घर से निकल पड़ा। प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरे दिन दरबार में कपिल को पेश किया गया। कपिल ने जब सत्य-सत्य स्थिति राजा को बताई तो वह दया से द्रवित हो उठा। उसने कपिल से इच्छा हो सो माँग लेने को कहा। कपिल ने सोचने के लिए समय माँगा और वह बाग में बैठकर सोचने लगा—जब माँगना ही है तो एक क्या दस स्वर्णमुद्राएँ माँग लूँ फिर दस ही क्यों सौ, हजार, लाख स्वर्ण-मुद्राएँ माँग लूँ लेकिन जब राजा ने कहा ही है तो उसका समूचा राज्य ही क्यों न माँग लूँ... किन्तु इस विचार के साथ ही उसके हृदय को धक्का लगा और उसकी भावना जागी— मैं कितना क्षुद्र हूँ, राजा की उदारता का यह बदला देना चाहता हूँ कि उसका राज्य ही छीन लूँ। वह अपनी आत्मा को धिक्कारने लगा और आत्मिक विचारणा में डूबने लगा। कुछ क्षणों में ही कपिल की भावना इतनी ऊँची चढ गई कि उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भावना के निर्माण पर ही गुणों का विकास हो सकता है। भावना के धरातल पर गुण विकसें और

गुणो से आत्मा चरम विकास की ओर गतिशील हो, यही जैन दर्शन एव संस्कृति की मूल प्रेरणा है।

मुझे आप नवयुवको मे यही कहना है कि आप जैन दर्शन एव संस्कृति की इस विशालता एव महानता को हृदयगम करे एव उस प्रकाश मे अपने जीवन का निर्माण तथा विकास साधे। अभी मैने "समरण" शब्द का जो अर्थ व्यक्त किया, वह केवल साधुओ के लिए ही नही है। आप लोगो को भी शास्त्रकारो ने 'समणोपासक' कहा है अर्थात् समरण-संस्कृति की उपासना करने वाले समरण-वृत्ति के अनुसार आचरण करने वाले।

आप लोगो ने जैन सोसायटी नामक सस्था स्थापित की है तथा जैन-संस्कृति के प्रचार की बात आप सोच रहे है। यह अच्छा है, लेकिन इन कार्यो मे अपने प्रत्येक कदम पर जैन दर्शन एव संस्कृति की मूल भावना का सदैव ख्याल रखना। जो दृष्टिकोण मैने आपके सामने रखा है, उसके अनुसार यदि आप जैन-संस्कृति का प्रचार करते हो तो प्रत्येक धर्म व संस्कृति के सत्याशो का स्वत ही प्रचार हो जाएगा। क्योंकि जैनदर्शन का कभी आग्रह नही कि उसका अपना कुछ है—वह तो सदाचारो का पुंज है, जहाँ से सभी प्रेरणा पा सकते है। ब्राह्मण-संस्कृति व पाश्चात्य देशो मे भी अहिंसा, सत्य एव पुरुषार्थ के जिन रूपो का प्रवेश हुआ है, उसे जैन-संस्कृति की ही देन समझना चाहिए। गाधी जी ने भी अहिंसा को साधन बनाकर देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को मजबूत बनाया, वह भी जैन-संस्कृति की ही विजय है।

भगवान महावीर ने किसी प्रकार की गुटबन्दी, साम्प्रदायिकता फैलाने का कभी नही सोचा। उन्होने तो श्रम, समता, सद्वृत्ति की सन्देश-वाहक श्रमरण-संस्कृति का प्रचार करके गुरण-पूजक संस्कृति का निर्माण किया और अनेकान्त के सिद्धान्त से सबका समन्वय करना सिखाया। इसलिए इस संस्कृति का प्रचार करना है तो सयम को कभी मत भूलना। संस्कृति के विकास का मूल सयम है। जैनधर्म यही शिक्षा देता है कि सयम के पथ पर चलकर साधा हुआ विकास ही सच्चा विकास है। जहाँ अपनी वृत्तियो पर

नियत्रण नही, विलासिता व परमुखापेक्षी भावना है, वहाँ पर न तो विकास ही सधेगा और न प्रचार ही होगा।

इसलिए आप नवयुवक भावना से गुणोपासक बनकर अपनी वृत्तियो व प्रवृत्तियो मे सयम का प्रवेश कराएँ और उसके बाद निष्ठापूर्वक महान एव विशाल जैन दर्शन तथा सस्कृति का समुचित प्रचार करे। आपको अवश्य ही सफलता मिलेगी और आप इनकी विशालता का परिचय दूसरो को दे सकेगे।

स्थान–
महावीर भवन,
चांदनी चौक, दिल्ली

(जैन सोसायटी दिल्ली के विद्यार्थियो के समक्ष दिया गया व्याख्यान)

महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता

महावीर और बुद्ध ने जिस गणतंत्र के स्वतंत्र वातावरण में स्वयं का विकास साधा और कोटि-कोटि जन को जीवन के स्वाधीनतापूर्ण विकास की ओर उन्मुख किया आज भारत में उसी गणतंत्र की ज्योति चमक उठी है। परतंत्रता की शृंखलाओं को काटकर जन-जन का जीवन जो आज स्वतंत्र गणतंत्र के उल्लास से परिपूरित हो उठा है, उसके ही प्रतीकस्वरूप आज चारों ओर मनाए जाने वाले समारोह हैं। मैं भी आज के दिवस के अनुरूप ही इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ कि महावीर का सर्वोच्च स्वाधीनता का सन्देश कैसा अनुपम है और उस उत्कृष्ट स्वाधीनता की ओर हम भारतवासियों को किस उत्साहपूर्ण भावना से गति करनी चाहिए ?

महावीर ने जो कहा पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनों हैं। हिंसा के नग्न ताडव से सन्तप्त एवं शोषण व अत्याचार से उत्पीडित जनता को दु.खों से मुक्त करने के लिए भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा धर्म की प्रव्रज्या लेकर अहिंसा की क्रान्तिकारी तथा सुखकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, सहानुभूति, शान्ति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का दिव्य पथ प्रदर्शित किया।

माया-संग्रह रूप पिशाचिनी के कराल जाल में फसे हुए मानवों को उन्होंने पथभ्रष्ट विलासिता के दल-दल से निकालकर निर्ग्रन्थ अपरिग्रहवाद का आदर्श बनाया। उन्होंने स्वयं महलों के ऐश्वर्य व राजसुख का त्याग कर निर्ग्रन्थ साधुत्व को वरण किया तथा अपने सजीव आदर्श से स्पष्ट किया कि भौतिक पदार्थों के इच्छापूर्ण त्याग से ही आत्मिक सुख का स्रोत फूट सकेगा। क्योंकि ग्रंथि (ममता) को ही उन्होंने समस्त दु.खों का मूल माना,

चाहे वह ग्रंथि जड द्रव्य-परिग्रह मे हो, कुटुम्ब, परिवार मे हो या काम, क्रोध लोभ, मोहादि मनोविकारो मे हो—यह ग्रंथि ही नित नवीन कष्टो का सृजन करती है। इसीलिए महावीर ने दृढता से आह्वान किया—

"पुरिसा, अत्ताण मेव अभिणिगिज्झ एव दुक्खा पमोक्खसि।"

—आचाराग सूत्र, अ० ३, सूत्र १६

हे पुरुषो! आत्मा को विषयों (कामवासनाओं) की ओर जाने से रोको, क्योकि इसी से तुम दु.खमुक्ति पा सकोगे।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है। परिग्रह के ममत्व को काटकर सग्रहवृत्ति का जब त्याग किया जायगा तभी कोई पूर्ण अहिंसक और पूर्ण स्वाधीन बन सकता है। ऐसी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना ही जैनधर्म का मूलभूत ध्येय है। स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है। मोह, मिथ्यात्व एव अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृखलाओ मे जकड जाती है। आज गणतत्र की स्वाधीनता पहले आत्मा की स्वाधीनता को जगाए, ताकि आत्मा की स्वाधीनता जागृत और विकसित होकर गण की स्वाधीनता को सुदृढ एव सुचारु बना सके।

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है— धीरे-धीरे सम्पूर्ण भौतिक पदार्थो एव भौतिक जगत से सम्बन्ध-विच्छेद करना। अन्तिम श्रेणी मे शरीर भी उसके लिए एक बेडी है, क्योकि वह अन्य आत्माओ के साथ एकत्व प्राप्त कराने मे बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिए अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख-दु:ख मे ही स्वय के सुख-दु:ख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना मे निज की चेतना को सजो देता है। एक शब्द मे कहा जा सकता है कि वह अपने 'व्यष्टि को समष्टि मे' विलीन

कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारो के लिये रोता नही, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यो के कठोर पथ पर कदम बढाता हुआ चलता जाता है। जैसा कि गीता मे भी कहा गया है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।"

फल की कामना से कोई कार्य मत करो, अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उस निष्काम कर्म मे एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का सम्पूर्ण समाज पर विशुद्ध एव स्वस्थ प्रभाव पड सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरो के हृदय मे विश्वास पैदा नही करता, क्योकि उसमे स्वार्थ की गन्ध होती है और सिर्फ स्वार्थ, परार्थ का घातक होता है। स्वार्थ छोडने से परार्थ की भावना पैदा होती है और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बताकर विश्व मे फैली बडे-छोटे, छूत-अछूत, धनी-निर्धन आदि की विषमता एव भौतिक शक्तियो के मिथ्याभिमान को दूर हटाकर सबको समानता के अधिकार बताए। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभावो की गूज बराबर बनी रही है। महात्मा गाधी आदि प्रभृति राष्ट्रीय नेताओ ने, कोई सन्देह नही कि इसी गूज से प्रेरणा प्राप्त की एव उनके सन्देश को जगत मे पुनर्प्रतिष्ठित किया। चाहे बाह्य दृष्टि से ये नेता न जैन कहलाये, न ही महावीर के शिष्य, किन्तु अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तो को जो सामाजिक महत्त्व इन्होने दिलाया उसे हम इनका जैनत्व ही माने। क्योकि आप जानते ही है कि जैनत्व किसी वर्ग, जाति या क्षेत्र के साथ बधा हुआ नही है तथा न ही इसका नाम से ही सार्थक महत्त्व है। शुद्ध दृष्टि से तो जैनत्व वहाँ ही माना जायगा, जहाँ तदनुरूप कार्य का अस्तित्व है। अग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध जो स्वातन्त्र्य-सघर्ष आज तक किया गया, उसमे अहिंसा और त्याग को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा उसी भावना का परिणाम है कि आज भारत स्वतत्र से गणतत्र भी हो रहा है। तो जिस पथ पर चलकर इतना विकास सम्पादित किया जा सका है, महावीर वाणी कहती है कि इसी पथ पर आगे बढो, ताकि आत्मविकास

की सच्ची स्वतन्त्रता व उसके निर्मल प्रकाश में समूह की गणतन्त्रता प्राप्त की जा सके।

भारत को स्वतन्त्र हुए दो वर्ष बीत चुके और आज वह गणतन्त्र भी बन रहा है। अब भारत किसी व्यष्टि विशेष का न होकर समष्टि का बन गया है। जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि व राष्ट्रपति ही देश का प्रशासन चलाएँगे। जनता को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे। इस तरह राजनीतिक दृष्टिकोण से जनता स्वतन्त्र हो गई है।

किन्तु जब तक जनता में सभी दृष्टियों से स्वावलम्बन पैदा नहीं होगा तब तक स्वाधीनता नहीं आएगी। चाहे तो निर्वाह के साधन हों या मानसिक विकारों का क्षेत्र हो, परतन्त्रता को मिटाने पर ही जीवन में नया उत्साह भर सकेगा। आज जो यह यान्त्रिक प्रगति सामाजिक न्याय के बिना बेरोक-टोक की जा रही है, वह न तो योजनाबद्ध कही जा सकती है, न ही समाज के लिए सुखदायक। इस व्यवस्था में आर्थिक विषमता बढ रही है और शोषण व अन्याय भी उसी परिमाण में तीव्रतर हो रहा है। क्योंकि एक ओर तो लाभांश कमाने वाला शोषक समाज अधिक समृद्ध होता हुआ विलासिता के रंग में डूब रहा है तो दूसरी ओर शोषण व अन्याय में उत्पीडित वर्ग कष्टों से विचलित होकर विकृति व हिंसा के मार्ग पर कदम बढा रहा है। दोनों प्रकार से सारा समाज अनैतिकता की राह पर आगे बढ रहा है। त्यागमय संस्कृति के क्षीण होने से वैभव की भूख बलवती हो रही है, जो समाज की स्वस्थ प्रगति के लिए शुभ लक्षण नहीं है। इसलिए सबसे पहले इस दूषित व्यवस्था से मुक्ति पाए बिना आप में सच्चा स्वावलम्बन नहीं फैल सकता है।

ऐसी अवस्था में आज के युवक पर इसकी महान जिम्मेदारी है, किन्तु उसकी भी सन्तोषजनक स्थिति नहीं है। आज के युवक के पास बोलने के लिए जिह्वा है, शब्दकोश है किन्तु हाथों के लिए कर्तव्यपरायणता और पाँवों के लिए कर्मठता नहीं है। परिणाम यह है कि युवक आज के राज-समाज की आलोचना तो करता है किन्तु उसे सुदृढता से बदल डालने के लिए त्यागमय जोश में आने आप को वह कटिबद्ध नहीं कर पाता है। विचार

और वाणी जब तक कर्म मे परिणत नही हो सके, वे अपने आप मे प्रभावशाली नही होते । युवको को यह सोचना चाहिए कि वर्तमान परिस्थितियो मे वे समाज की गतिशीलता मे क्या और किस प्रकार योग दे सकते है कि सर्वोच्च स्वाधीनता की ओर हमारे कदम बढते चले जाएँ ?

आज मै राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलो की कार्यप्रणाली पर भी दृष्टिपात करता हूँ तो उसमे वाग्विलास ही दिखाई देता है । बजाय इसके कि उनकी कार्यप्रणाली मे नवनिर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति दिखाई दे । भारत के एक चिन्तनशील कवि जगन्नाथ ने जो यह अन्योक्ति कही है, उससे ऐसा प्रतिभास होता है कि वह सभवत वर्तमान परिस्थिति को ही इगित करके कही गई हो—

पुरा सरासि मानसे विकचसार सालिस्खल-
पराग सुरभिकृते यस्य यात वय' ।
स पल्वल जलेऽधुनालिलदनेक भेकाकुले,
मरालकुलनायक कथय रे कथ वर्तताम् ।

—भामिनीविलास

अर्थात् कमलो से आच्छादित, भरते हुए पराग से सुगन्धित एव मधु से भी मधुर मानसरोवर के शीतल जल और चमकते हुए बहुमूल्य मुक्ता का पान करता हुआ सुन्दर-सुन्दर कमलो पर क्रीडा करके अपना जीवन-यापन करने वाले राजहस को ऐसी छोटी-सी तलैया पर बैठा देखे, जिस तलैया मे पानी तो थोडा हो और मेढक अधिक हो, जो राजहस के अन्दर चोच डालते ही फुदक-फुदककर पानी को गदला बना डालते हो और राजहस को पानी पीने से वचित रख देते हो तो ऐसी दु खावस्था को देखकर कवि हृदय बोल उठता है कि हे मानसरोवर के आदिवासी राजहस, तुम्हारी यह दु खद दशा कैसे ?

बन्धुओ ! जरा ध्यान से भारत के गौरवपूर्ण अतीत पर नज़र डालिए कि वह हमेशा मानसरोवर पर रहा है और यहाँ ऋषभ, शान्तिनाथ, राम, कृष्ण, महा-

वीर जैसे राजहस होते रहे हैं। जिन्होने सदैव सत्सिद्धान्तो रूपी मुक्ताओ का चयन किया और उन्हे समग्र भारतवासियो को भेंट किया। फिर आज यह दुर्भाग्य क्यो जो मानसरोवर के राजहस ओछी व कलहपूर्ण राजनीति की गदी तलैया पर बैठे है और जनता को मेढक बना रहे है। गणतत्र दिवस पर महावीर का त्यागमय सन्देश हृदय मे ग्रहण कीजिए, तब आप भलीभाँति अनुभव कर सकेंगे कि आज का युग ईर्ष्या, विग्रह एव आलोचना का नही, प्रेम, सहानुभूति एव कर्तव्यधर्मों के पालन करने का है। अब तक राजनीतिक रूप से ही सही, लेकिन जनता के जो हाथ-पाँव बधे हुए थे, वे मुक्त हो गए है और अवसर आया है कि अपने अथक कार्यों से देश की त्यागमय सस्कृति का धवल प्रकाश फिर से विश्व मे फैला दे। जिस विश्वप्रेम का पाठ ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने पढाया था उसी पाठ को वर्तमान समय मे निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति के सत जनता को पढा रहे है और गाधीजी सरीखे पुरुषो ने विश्वप्रेम को अहिंसा के नाम से व्यवहारिक व राजनीतिक क्षेत्र मे भी प्रसारित किया है, जो कि आज सबके सन्मुख है और मेरा भी आदेश है कि मानव, मानव की आत्मा के साथ शुद्ध अहिसामय प्रेम स्थापित करे, अन्य सभी कर्मजनित सकुचित दायरो से ऊपर शुद्ध मानवता के अनुभाव का पूर्ण विकास हो। विचार-भिन्नता होने पर भी कार्य-क्षेत्र मे भिन्नता नही होनी चाहिए, मतभेद मनभेद को पैदा नही करे। जो राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्त हुई है, उसका उपयोग महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता के लिए होना चाहिए। इसी मे देश का गौरव है और गौरव है शुद्ध कर्मण्य-शक्ति का।

महावीर ने दश धर्मों का वर्णन किया है, उसमे राष्ट्रधर्म का भी उल्लेख है। राष्ट्र अपने आप मे भौगोलिक सीमाओ से बधा हुआ धर्म एव संस्कृति का एक बडा घटक होता है और उस सीमा तक कि वह धर्म विश्व-प्रेम पर आघात न करे। राष्ट्र के प्रति निष्ठा एव भक्ति भी पूर्णतया आवश्यक है। आज वही निष्ठा एव भक्ति भारतीयो के हृदयो मे पैदा होनी चाहिए कि देश का सम्मान बढे। जापान देश की एक छोटी-सी घटना बताई जाती

है कि वहां एक भारतीय अपनी इच्छा के फल न मिलने के कारण जापान के प्रति निन्दात्मक बाते कह रहा था, जिसे एक गरीब जापानी ने सुन लिया। वह बडा विक्षुब्ध हुआ और कही मे खोज-खाजकर वह फलो की टोकरी ले आया और उसने उस भारतीय को दे दी। भारतीय जब उसे दाम देने लगा तो उसने बडा मार्मिक जवाब दिया—महाशय, मुझे पैसा नही चाहिए, देश का मान हमारे लिए बडा है, जन्मभूमि का सम्मान हमे अपने जीवन से भी अधिक प्यारा है। आपसे इन फलो की मै यही कीमत मांगता हूँ कि आप अपने देश मे जाकर मेरे देश जापान की किसी प्रकार निन्दा न करें।

राष्ट्र के प्रति व्यक्त किया जाने वाला यह सम्मान देशवासियो मे गौरव का भाव उत्पन्न करता है और यही गौरव का भाव सकटों मे धैर्य, वैभव मे नम्रता तथा कर्म मे कर्मठता को बनाए रखता है। जिन्हे अपनी आत्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नही होने देगे, चाहे कितनी ही विषमतापूर्ण परिस्थितियां उनके सामने आकर खड़ी हो जाएँ ! अपनी आत्मा का गौरव बनाइए, उसे निभाइए और अपने साथियो के गौरव की रक्षा कीजिए, फिर देखिए समाज और राष्ट्र का गौरव बनेगा और वह विश्व के गौरव मे बदलता जाएगा। छोटे से लेकर समूहो तक के जीवन विकास की यही कहानी है।

आज आप लोग भी स्वतत्रता के प्रतीक चक्रयुक्त तिरगे झडे का अभिवादन कर रहे हैं, स्वतत्रता पर भाषण-अभिभाषण हो रहे हैं किन्तु इन बाह्य क्रियाओ मात्र मे स्वतत्रता का रक्षण होने वाला नही है। इसके लिए तो अपने स्वार्थो का बलिदान चाहिए और चाहिए है वैसी कर्मठता जो त्याग की भूमि पर सुदृढता से गति कर रही हो। अगर ऐसा नही हुआ तो क्या यह राजनीतिक स्वतत्रता टिक सकेगी और क्या महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता की साधना की जा सकेगी ? इसलिए बन्धुओ, गणतत्र दिवस पर प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेगे। ॐ शाति।

बसन्त टॉकीज, आगरा

२६ जनवरी, १९५०

जैन अहिंसा और उत्कृष्ट समानता

"जय जगत् शिरोमणी, हु सेवक ने तू धणी"

प्रार्थना मे कहा गया है कि हे जगत के शिरोमणि, हे प्रभु, तुम्हारी जय हो। मै तुम्हारा सेवक हूँ और तुम मेरे स्वामी हो। मैं आपसे पूछूँ कि क्या हमारे कहने से ही परमात्मा की जय हो और हमारे न कहने से उसकी जय नही हो? आपको यह प्रश्न कुछ अटपटा लगे किन्तु उतर स्पष्ट है। हमारे जय कहने या न कहने का परमात्मपद पर कोई असर नहीं पडता और न ही जिस श्रेणी मे सिद्ध विराजमान है, उनका हम सांसारिक प्राणियो से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध है। यह जय तो हम अपने आत्मिक-जागरण के लिए कहते है कि उनका प्रदर्शित पथ हमारे अन्तर् मे रम सके और हम उनकी जय भी इसलिए कहते है कि वे पूर्ण पुरुष है। अपूर्ण की जय नही कही जाती। पूर्ण विजेता ही जयवान् होता है। जिस तरह कुम्हार का कच्चा घडा या रसोई मे रखा कच्चा सामान तृषा व क्षुधा सन्तुष्टि मे सहायक न होकर पक्का घडा व पक्वान्न ही वैसे हो सकते है।

तो उस प्रभु की जय इसलिए कहते है कि हम उसके प्रति वफादार बन सके। सेवक अगर स्वामी के प्रति वफादार न बन सके तो फिर उसका सेवकत्व ही क्या? फिर परमात्मा का सेवक होना तो कोई छोटी बात नही है। साधारण स्वामी को तो अप्रत्यक्ष तरीके से छला भी जा सकता है लेकिन त्रिकाल ज्ञाता सर्वज्ञ प्रभु के प्रति वफादारी का अर्थ है कि अपने जीवन मे एक निश्चित विधि से निश्छल साधना की जाय और इस साधना का प्रमुख रूप है कि परमात्मा के सभी सेवको की इस सृष्टि मे हम समानता की स्थिति पैदा करें। सभी परमात्मा के सेवक है—फिर उनके बीच

भेदभाव और विषमता क्यो ? एक सेठ का नौकर भी जब सेवा का कार्य करता है तो पुरस्कार पाता है और काम बिगाडता है तो तिरस्कृत होता है। फिर हम भी परमात्मा के सेवक बनकर यदि सृष्टि का सुधार करेगे तो ऊँचे चढते जाएँगे तथा अपने साथियो का अकल्याण करेगे पहले तो हमारा ही पतन होगा ?

अत परमात्मा की जय बोलते हुए इस सृष्टि मे उसके प्रति वफादार रहने का एक ही मार्ग है और वह है अहिंसा का मार्ग। इसीलिए जैनधर्म का हृदय है अहिंसा—"अहिंसा परमोधर्म ।"

इस सृष्टि मे रहते हुए सृष्टि को सुधारने वाला जो यह अहिंसा का सिद्धान्त है, वह क्या है ? यह गभीरता से सोचने और समझने लायक है। अहिंसा के पथ पर जो भी चला, उसने अपने विकास की चरम श्रेणी प्राप्त कर ली। आनन्द देकर जो आनन्द मिलता है, उसी के प्रकाशमान स्तभ अहिंसा पर हम यहाँ विचार करेगे।

जैनधर्म मे अहिंसा का जो स्वरूप-दर्शन तथा निरूपण किया गया है, वह सर्वाधिक सूक्ष्म है। यो तो अहिंसा को मान्यता सभी धर्म देते है किन्तु साथ-ही-साथ "धार्मिकी हिंसा हिंसा न भवति" का तर्क देते है अथवा साधुओ को भी सकट मे मासभक्षण का निर्देश करते है। वहाँ जैनधर्म की आत्मा अहिंसा है। "जय चरे, जय चिट्ठे ‥" हर कार्य इतनी यतना से होना चाहिए कि वह किसी भी प्राणी को तनिक-सा भी क्लेश देने वाला नही हो।

वैसे 'अहिंसा' शब्द स्वीकारात्मक न होकर नकारात्मक है। जहाँ हिंसा नही, वहाँ अहिंसा। हिंसा की हमारे यहाँ व्याख्या दी गई है—"**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा**"—प्रमाद के योग से किसी भी प्राण को हनना या क्लेश पहुँचाना हिंसा है। वैसे यह व्याख्या बहुत सीधी है, किन्तु मै यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जैनधर्म मे अहिंसा के न सिर्फ इस नकारात्मक पहलू पर गभीर प्रकाश डाला गया है वरन् अहिंसा के स्वीकारात्मक पहलू का सविस्तार अध्ययन किया गया है।

किसी भी प्राण को क्लेशित करने का नाम हिंसा कहा गया है तो प्रश्न पैदा होता है कि प्राण क्या ? जीवधारी की जो सजीवना है वही उसका प्राण है। प्राण का धारक होने से ही वह प्राणी कहलाता है। प्राण १० प्रकार के बतलाये गए है—

१. एकेन्द्रिय बल प्राण
२. बेइन्द्रिय बल प्राण
३. तेइन्द्रिय बल प्राण
४. चौइन्द्रिय बल प्राण
५. पचेन्द्रिय बल प्राण
६ मन-बल प्रण
७. वचन-बल प्राण
८. काया-बल प्राण
९. श्वासोच्छ्वास बल प्राण
१०. आयुष्य बल प्राण

अर्थात् प्राणी एकेन्द्रिय (पृथ्वी आदि) से लेकर पचेन्द्रिय (पशु, मनुष्य आदि) तक अपनी इन्द्रिय धारकता से होते है। इन्ही प्राणियो मे काया सूक्ष्म या स्थूल सबके होती है तथा मन और वचन की शक्ति किन्हीं प्राणियो मे होती है और किन्ही मे नही होती। श्वासोच्छ्वास और आयुष्य का सम्बन्ध सभी प्राणियो से होता है। तो अब देखना यह है कि प्राणो को क्लेशित करने का क्षेत्र कितना लम्बा-चौडा है और हिंसा से बचने का प्रयास करना कितनी साधना का काम होता है ?

पहली बात तो यह कि प्राण सिर्फ मनुष्य या पशु-पक्षियो मे ही वर्तमान नही है, जिनका खयाल आसानी से रखा जा सकता है, किन्तु छोटे-छोटे कीडे-मकोडे और वनस्पति, पानी आदि के लघुकाय जीवो के भी प्राणो को यदि किसी प्रकार से हमारी क्रियाओ द्वारा कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा है। किसी भी प्राणी को मारना, काटना या मारकर मास सेवन करना—ये तो बहुत मोटी बातें है और हिंसा की दृष्टि से इसे सब जल्दी ही

SHREE JAIN JAWAHAR PUSTAKALAYA

पहिचान जाते है किन्तु छोटे-छोटे प्राणियो को न मारना या क्लेशित न करना विवेक का काम है।

इसके बाद हिंसा की व्याख्या मे न सिर्फ प्राणियो की काया को कष्ट देना ही सम्मिलित है बल्कि उनके मन, वचन, श्वासोच्छ्वास व आयुष्य तक का व्याघात करना या कम करना भी हिंसक कार्यों मे गर्भित है। यह बहुत बारीक बात है कि किसी के मन और उसकी वाणी पर भी अपने क्रियाकलापो द्वारा किसी तरह का व्याघात न पहुँचाया जाए।

हिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि अगर इससे पूरे तौर पर बचना चाहे तो सासारिक जीवन के निर्वाह मे कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी। इसलिए जैनधर्म में इसके लिए दो प्रकार के धर्मो का उल्लेख किया है कि साधु तो सभी प्रकार की हिंसा से अपने आपको बचाए किन्तु श्रावक (गृहस्थ) को भी कम-से-कम स्थूल हिंसा के कार्यों से तो अलग रहना ही चाहिए। जहाँ साधु के पहले महाव्रत मे सभी प्रकार की हिंसा का त्याग होता है, वहाँ श्रावक के पहले अणुव्रत के निम्न अतिचार बताये गये है,—१ क्रोधवश किसी भी त्रस जीव (एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते है) को कठिनतापूर्वक बाँधा हो, २ उसे घायल किया हो, ३ उनका चर्म-छेदन किया हो, ४ उन पर अधिक भार लादा हो, ५ उनका अन्न-पानी छुडाया हो। इस प्रकार के हिंसक कार्य करना श्रावक के लिए वर्जित है तथा इनमें से कोई कार्य उससे क्रोधवश, प्रमादवश या अन्य रीति से हो जाए तो उसके लिए उसे प्रतिक्रमण के रूप मे प्रायश्चित्त करना होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि एक जैन श्रावक को भी कम-से-कम अनावश्यक हिंसा नही करनी चाहिए और धीरे-धीरे उससे भी अपने आपको बचाते हुए साधु-धर्म की ओर उन्मुख होना चाहिए। एक सद्गृहस्थ के नाते उसके पास जितने भी पशु या नौकर-चाकर हो, इन अतिचारो से स्पष्ट हो जाता है कि उनके साथ उसका कितना सहृदय व्यवहार होना चाहिए। क्योकि श्रावक को अपने मन, वचन व काया से भी किसी प्रकार उनके प्राणो को क्लेशित नही करना चाहिए। आप इस बात पर ध्यान दे कि अहिंसा साधना की

इस प्राथमिक श्रेणी का भी पालन आपको पूरे तौर पर करना हो तो आप मे मानवता का कितना ऊँचा दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए।

इसके अलावा यह जो कुछ मैंने अभी बताया है, वह तो अहिंसा का नकारात्मक पहलू मात्र है कि हिंसा मत करो, किन्तु जैनधर्म मे इसके स्वीकारात्मक पहलू का भी विशद वर्णन है।

अहिंसा का स्वीकारात्मक पहलू है कि प्राणो का रक्षण करो। पहली सीढी तो यह सही है कि अपनी ओर से किन्ही भी प्राणो को कष्ट मत दो। लेकिन क्या ससार और समाज मे रहते हुए विवेकशील प्राणियो का इस नकारात्मक रुख से ही अपना कर्तव्य समाप्त हो जाता है ? नहीं होता, क्योकि विभिन्न इन्द्रियो के प्राणियो मे विवेक, सामर्थ्य वा शक्ति की दृष्टि से काफी विभेद होता है और कम विवेक व सामर्थ्य के प्राणियो को अधिक विवेक व सामर्थ्य के प्राणियो की सहायता की अपेक्षा होती है तथा समान विवेक व सामर्थ्य के प्राणियो को भी अपने जीवन-सरक्षण हेतु परस्पर सहायता की भी अपेक्षा होती है। आपके सासारिक जीवन को ही देखिए—एक ही व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के सारे साधन स्वय नही रच सकता है। किसान धान पैदा करता है तो कोई उसे इधर-से-उधर पहुँचाता है और फिर वह रसोईघर मे विविध क्रियाओ द्वारा खाद्य-योग्य बनता है। इसी प्रकार अन्य प्रदार्थो की भी अवस्था है। तात्पर्य यह कि समाज मे सबके पारस्परिक सहयोग से प्रत्येक के जीवन का अनुपालन व सरक्षण होता है।

तो इसी दृष्टिकोण की बारीकियो पर अहिंसा का स्वीकारात्मक पहलू जाता है कि प्राणियो को उनके जीवन के अनुपालन व सरक्षण मे सद्भाव से सहायता करो, जीओ और जीने दो। इस पहलू से सहानुभूति, दया, करुणा, सहयोग आदि सद्गुणो की जीवन मे पुष्टि होती है और इसी पुष्टि से मानवता का विकास होता है। हिंसा के निवृत्ति-धर्म से भी अहिंसा का यह प्रवृत्ति-धर्म अधिक ऊँचा माना गया है। एक व्यक्ति झूठ नहीं बोलता है, उसमे ही उसका काम पूरा नहीं हो जाता। यह तो उसका नकारात्मक काम हुआ किन्तु सत्य की साधना उसकी स्वीकारात्मक तब होगी जबकि

वह झूठ न बोले और सत्य बोले। दोनो पहलुओ का पालन जरूरी होता है। अगर कोई झूठ तो न बोले लेकिन सत्य बोलने का अवसर आए और मौन रह जाए तो उसको आप क्या कहेगे ? सत्य के प्रतिपादन के समय कोई मौन रखे तो वह अव्यक्त तौर पर ही सही किन्तु असत्य का प्रतिपादन करने वाला ही कहलायगा। उसी प्रकार हिंसा से तो कोई निवृत्ति ले ले किन्तु अहिंसा मे प्रवृत्ति न करे, जीवन-सरक्षण की ओर लक्ष्य न बनाए तो उसे भी अहिंसक नही कहा जा सकता। अहिंसा की प्रवृत्ति ही अहिंसा के समुज्ज्वल स्वरूप को, विशेष रूप से सामाजिक जीवन मे प्रकाशित कर सकती है। एक ओर अहिंसा हिंसा से निवृत्ति करना सिखाती है तो दूसरी ओर अन्याय, अत्याचार, शोषण, दमन और दुर्व्यवहार का प्रतिरोध करके असहाय प्राणो की रक्षा पर बल देती है और पहले से भी दूसरा कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। क्योकि प्राणो को आप न मरने दे—यह ठीक है लेकिन उनके अस्तित्व मे यदि उन्हे सुखपूर्ण बनाने की श्रद्धा न बनाई जा सके तो वह अहिंसा का पालन होना नही कहलाएगा। प्राणी बचे, उनकी रक्षा हो और उनके जीवन के समुन्नत बनने की स्थिति बन सके—ये सभी कर्तव्य अहिंसक के होने चाहिए।

अब अहिंसा के इन दोनो पहलुओ के महत्त्व पर इस दृष्टि से विचार कीजिए कि किसी भी प्राण को कष्ट न दिया जाए, बल्कि उन प्राणो को जहाँ तक बन सके अपना सरक्षण भी दिया जाए। अहिंसा की इस साधना मे साधक के मन, वचन एव काया तीनो शुद्धिपूर्वक नियोजित होने चाहिए। मैं किसी के मन, वचन व काया को कष्ट न दूँ—यह तो हुई एक बात, लेकिन मेरा जो अहिंसा धर्म का पालन हो, वह मेरे शुद्ध मन द्वारा, वचन द्वारा तथा कर्म के द्वारा पूर्ण होना चाहिए। कोई काम दिखावे के लिए कहा जा सकता है या किया जा सकता है लेकिन अहिंसा की साधना दिखावे या लोक-व्यवहार से ऊपर अन्तर्हृदय मे पैठनी चाहिए क्योकि अन्तर् की प्रेरणा व सद्भावना से जो वचन कहा जाएगा या कर्म किया जाएगा, उसमे वास्तविकता होगी तथा वही कार्य मन, वचन व काया की शुद्धि पर आधारित होगा।

अत अहिंसा की आराधना के लिए मन, वाणी और कर्म तीनो मे एक साथ शुद्धि की आवश्यकता है, या यो कहे कि इन तीनो मे अहिंसा वृत्ति के सहज प्रवेश पर ही अहिंसा धर्म का सुचारु रूप से पालन किया जा सकता है। कई भाइयो का जो यह कथन है कि शरीर से मारने पर ही हिंसा होती है और इसलिए वे कहते हैं कि—

मन जाए तो जाने दे, मत जाने दे शरीर।
न खेंचेगा कमान तो, कैसे लगेगा तीर॥

किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है—यह कथन केवल एकागी व बाह्य दृष्टिकोण को प्रकट करता है। जैन शास्त्रो का वचन है कि शरीर की हिंसा से भी मन की हिंसा बडी होती है, क्योंकि शारीरिक हिंसा का आधार भी मानसिक हिंसा ही होती है। इसके लिए शास्त्रो मे एक उदाहरण आया है कि मानसिक हिंसा से आत्मा का कितना पतन हो सकता है।

उदाहरण यह है कि समुद्र मे एक विशालकाय मगरमच्छ था। उसका मुँह जब खुला रहता तो छोटे-बडे कई मच्छ उसमे घुसते व निकलते रहते थे। उस समय उस विशालकाय मगरमच्छ की आँख पर बैठा हुआ एक तदुल मच्छ जो चावल के दाने के बराबर होता है—सोचता है कि इस मगरमच्छ के मुख मे कितने छोटे-बडे मच्छ स्वत ही जा रहे है किन्तु यह कितना मूर्ख है कि उन्हे निगल नही जाता। यदि मेरी ऐसी दशा होती तो मैं इन सब मच्छो को किसी भी हालत मे अपने मुँह से बाहर नही निकलने देता। इन्ही सकल्प-विकल्पो मे बहता हुआ तन्दुल मच्छ वहाँ उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तो कहा गया है कि उसकी गति सातवी नरक मे होती है। अभिप्राय यह है कि केवल मानसिक हिंसा के कारण उस छोटे से प्राणी की भी ऐसी गति हुई। इसी प्रकार वाणी का घाव भी तलवार का घाव माना गया है। अत आप लोगो को गभीर चिन्तन करना चाहिए की अपने आपको अहिंसा धर्म के साधक कहने के पहले अपने जीवन की कितनी अद्भुत तैयारी होनी चाहिए।

SHREE JAIN JAWAHAR PUSTAKALAYA
BHINASAR (BIKANER)

अपने आर्यदेश भारत और उसमें भी राजस्थान, मध्यभारत आदि कितने ही अन्य प्रदेश हैं जहाँ जैन-सस्कारो के कारण काफी भाइयो मे इतनी दयालुता मिलेगी कि उनको कहा जाय कि अमुक धनराशि ले लो और बकरे को अपने हाथो से काट दो तो सभावना है कि वे ऐसा न कर सकेंगे, बल्कि छोटे-छोटे प्राणियो की भी वे करुणा से रक्षा करते हैं। इस प्रकार शारीरिक हिंसा की तरफ उनको अपने मातृसस्कार, कुल परम्परा आदि की वजह से घृणा है किन्तु जरा मानसिक एव वाचिक हिंसा की तरह भी वे अपना ध्यान बढाएँ तो अहिंसा के आन्तरिक आनन्द का उनमे आभास बढ सकेगा। जो भाई छोटे-छोटे जीवो को नही मारने की प्रवृत्ति मात्र से अपने को कृतकृत्य समझते है, जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की तरफ उनका ध्यान ही नही जाता।

आज के आर्थिक युग मे जिस प्रकार से मनुष्य का शोषण और दमन होता है, वह भी एक दर्दनाक परिस्थिति है। अपने साथी मनुष्य का दिल दुखाना, उसके प्रति कटु व्यवहार करना कटुवचन कहना एवं मन से ईर्ष्या, द्वेष एव प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र मे कइयो के प्रति बुरा चिन्तन करना, ये सब आज की ऐसी बुराइयाँ हैं जिनकी ओर अहिंसा के साधक का ध्यान सबसे पहले जाना चाहिए। अहिंसा के जो ये मार्ग हैं, उन पर चलकर ही आत्मा का विकास भली-भाँति साधा जा सकता है।

अब कल्पना कीजिए ऐसे समाज और विश्व की, जिसमे व्यक्ति यदि अहिंसा की साधना जैनदृष्टि जो कि मानवीय दृष्टि है, के अनुसार करने लगे और उसी रीति से अपने पारस्परिक व्यवहार को ढालें तो सभव है कि यहाँ शोषण और दमन रह जाएँ, व्यक्तियो और राष्ट्रो के बीच शत्रुता एव कटुता रह पाए? और इसका उत्तर है कि यह सभव नही है। अहिंसा का पथ राजपथ है जिस पर चलकर इहलोक और परलोक दोनो का भली-भाँति निर्माण किया जा सकता है।

अहिंसा का साधन वीरो का है। कायर तो सबसे पहले मानसिक हिंसा से ही अधिक पीडित है। ऐसा व्यक्ति मानसिक हिंसा से दूसरो को तो गिरा

सके या नही, किन्तु अपने आपको तो बहुत गहरे अवश्य ही गिरा डालता है। साधु और श्रावक के भी अहिंसा व्रतो का जो ऊपर उल्लेख किया गया है उनका भी उद्देश्य यही है कि मन, वाणी और काया से अधिकाधिक अहिंसा के दोनो पहलुओ का पालन किया जा सके।

इसलिए मेरा आप लोगो से कहना है कि यदि आप अपने आपको परमात्मा का वफादार सेवक बनाना चाहते हैं और इस सृष्टि मे उत्कृष्ट समानता का वातावरण बनाना चाहते हैं तो समग्र रूप से अहिंसा का पालन कीजिए। जैनदृष्टि सभी आत्माओं मे समानता की मान्यता रखती है क्योंकि मूल रूप मे सबमे कोई भेद नही है—विकास की न्यूनाधिकता दूसरी बात है। तो आत्माओ की यह समानता अहिंसा की साधना से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त की जा सकती है। अहिंसा ही वह सशक्त साधन है जिसके द्वारा आत्म-समानता यानी परमात्म-वृत्ति के साध्य को साधा जा सकता है।

स्थान
अलवर (राजस्थान), ७-८-१९५१

स्याद्वाद : सत्य का साक्षात्कार

आज आप लोगो के बीच यूरोप खड मे स्थित हगरी देश के प्रमुख विद्वान् डॉ० फेलिक्स वैली भी उपस्थित हैं। वैसे ये बौद्धधर्म के विशेपज्ञ हैं किन्तु जैन दर्शन के प्रति भी इनका अति आकर्षण व आदर है और उसी प्रेरणा से ये आज जैन-सिद्धान्तो की विशेष जानकारी के लिए यहाँ आये हुए है।

जैनधर्म आत्म-विजेताओ का महान् धर्म है। जिन्होने रागद्वेप आदि अपने आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त करके सयम एव साधना द्वारा निर्मल ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा को उत्थान के मार्ग पर अग्रसर किया है, उन्हे हमारे यहाँ 'जिन' (विजेता) कहा गया है तथा इन विजेताओ द्वारा प्रेरित दर्शन का नामाकन जैन-दर्शन के नाम से हुआ। अत. यह दर्शन किसी व्यक्ति-विशेष, वर्ग विशेष या शास्त्र-विशेष की उपज नही, वल्कि इसका विकास उन आत्माओ द्वारा हुआ है, जिन्होंने सारे सासारिक (जातीय, देशीय सामाजिक, वर्णीय आदि) भेदभावो व यहाँ तक कि स्वपर को भी विसर्जित कर अपने जीवन को सत्य के लिए होम दिया। यही कारण है कि इसका यह स्वरूप इसकी महान् आध्यात्मिकता व व्यापक विश्व वन्धुत्व का प्रतीक है।

जैनो का प्रधान साध्य सत्य का साक्षात्कार करना है, जिसके प्रकाश मे जीवन का कण-कण आलोकित होकर चरम विकास को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त साधन रूप वनकर उक्त साध्य की ओर गमनशील वनाते है। इसमे भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर आध्यात्मिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है, क्योकि समस्त प्राणी समूह की सेवा के लिए यह अनिवार्य है कि सासारिक प्रलोभनो को छोडकर आत्मवृत्तियो का शुद्धिकरण किया जाय, जिसके विना

इस अनवरत सघर्षशील जगत् के बीच स्व-पर-कल्याण सम्पादित नहीं किया जा सकता। सक्षेप मे जैन-दर्शन विश्वशान्ति के साथ-साथ व्यक्तिशान्ति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

तो मै यहाँ पर जैन दर्शन की मौलिक देन स्याद्वाद या अनेकान्तवाद पर कुछ विशेष रोशनी डालना चाहता हूँ। जिस प्रकार सत्य के साक्षात्कार मे हमारी अहिंसा स्वार्थ-सघर्षों को सुलझाती हुई आगे बढती है, उसी प्रकार यह स्याद्वाद जगत् के वैचारिक सघर्षों की अनोखी सुलझन प्रस्तुत करता है। आचार मे अहिंसा और विचार मे स्याद्वाद—यह जैनदर्शन की सर्वोपरि मौलिकता कही है। स्याद्वाद को दूसरे शब्दो मे वाणी व विचार की अहिंसा के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

स्याद्वाद जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो मे से एक है। किसी भी वस्तु या तत्त्व के सत्य स्वरूप को समझने के लिए हमे इसी सिद्धान्त का आश्रय लेना होगा। एक ही वस्तु या तत्त्व को विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है और इसलिए उसमे विभिन्न पक्ष भी हो जाते हैं। अतः उसके सारे पक्षो व दृष्टिकोणो को विभेद की नही, बल्कि समन्वय की दृष्टि से समझकर उसकी यथार्थ सत्यता का दर्शन करना इस सिद्धान्त के गहन चिन्तन के आधार पर ही सभव हो सकता है। आज के विज्ञान ने भी अब तो सिद्ध कर दिया है कि एक ही वस्तु की कई बाजुएँ हो सकती हैं और उसमे भी ऐसी बाजुएँ अधिक होती हैं, जिनका स्वरूप अधिकतर प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही रहता है। अतः इन सारे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पक्षो को समझने के बाद ही किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है।

इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु-विशेष के एक ही पक्ष या दृष्टिकोण को उसका सर्वांग स्वरूप समझकर उसे सत्य के नाम से पुकारना मिथ्यावाद या दुराग्रह का कारण बन जाता है। विभिन्न पक्षो या दृष्टिकोणो के प्रकाश मे जब तक एक वस्तु का स्पष्ट विश्लेषण न कर लिया जाय, तब तक यह नही कहा जा सकता कि हमने उस वस्तु का सर्वांग

SHREE JAIN JAWAHAR PUSTAKALAYA
BHINASAR (BIKANER)

स्वरूप समझ लिया है। अतः किसी वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणो के आधार पर देखने, समझने व वर्णित करने से विज्ञान का नाम ही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद (Science of Versatility or Relativity) कहा गया है।

जैनदर्शन का यह स्याद्वादी दृष्टिकोण किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को हृदयगम करने के लिए परमावश्यक साधन है। इसके जरिये सारे दृढ-वादी या रूढिवादी विचारो की समाप्ति हो जाती है तथा एक उदार दृष्टिकोण का जन्म होता है, जो सभी विचारो को पचा कर सत्य का दिव्य प्रकाश शोधने मे सहायक बनता है। स्याद्वाद का यह सिद्धान्त हमारे सामने सारे विश्व की वैचारिक और तदुत्पन्न सार्वदेशिक एकता सुनहला चित्र प्रस्तुत करता है। मैं यह साहस के साथ कहना चाहूँगा कि यदि इस सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रो मे रहे हुए ससार के विचारक समझने की चेष्टा करे तो कोई सन्देह नही कि वे अपनी सघर्षात्मक प्रवृत्ति को छोडकर एक दूसरे के विचारो को उदारतापूर्वक समझकर उनका शान्तिपूर्ण समन्वय करने की ओर आगे बढ सकेगे।

इससे पूर्व कि स्याद्वाद के विशिष्ट महत्व को विस्तार से समझा जाय, जगत के वैचारिक सघर्ष की पृष्ठभूमि को पूर्णतया समझ लेना जरूरी है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे सारे प्राणी समाज मे एक विशिष्ट व उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है स्वय ही और स्वतन्त्रतापूर्वक भी, अत उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारो की विभिन्न दृष्टियाँ ससार मे जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्व-रूप पर भी विभिन्न लोग अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियो से सोचना शुरू करते हैं। यहाँ तक तो विचारो का क्रम ठीक रूप मे चलता है। किन्तु उससे आगे क्या होता है कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियो मे सोचकर उनके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नही झुकते। जिसने एक वस्तु की जिस विशिष्ट दृष्टि को सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एकान्तिक

दृष्टिकोण व हठधर्मिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्य ज्ञान की ओर बढा सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव मे विद्वेषपूर्ण सघर्ष के जटिल कारणो के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। तो हम देखते है कि एकाँगी सत्य को लेकर जगत के विभिन्न विचारक व मतवादी उसे ही पूर्ण सत्य का नाम देकर संघर्ष को प्रचारित करने मे जुट पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति मे स्याद्वाद का सिद्धान्त उन्हे बताना चाहता है कि सत्य के टुकडो को पकडकर उन्हे ही आपस मे टकराओ नहीं, वलिक उन्हे तरकीव से जोड़कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर सामूहिक रूप से जुट पडो। अगर विचारो को जोडकर देखने की वृत्ति पैदा नही होती व एकाँगी सत्य के साथ ही हठ को बाँध दिया जाता है तो यही नतीजा, होगा कि वह एकाँगी सत्य भी सत्य न रहकर मिथ्या मे बदल जायगा। क्योकि पूर्ण सत्य को न समझने का हठ करना सत्य का नकारा करना है। अत यह आवश्यक है कि अपने दृष्टि विन्दु को सत्य समझते हुए भी अन्य दृष्टि विन्दुओ पर उदारतापूर्वक मनन किया जाय तथा उनमे रहे हुए सत्य को जोडकर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टियो से देखने की कोशिश की जाय। यही जगत के वैचारिक संघर्ष को मिटाकर उन विचारो को आदर्श सिद्धान्तो का जनक वनाने की सुन्दर राह है।

सर्व साधारण को स्याद्वाद की सूक्ष्मता का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए मैं एक दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहा हूँ।

एक ही व्यक्ति अपने अलग-अलग के रिश्तो के कारण पिता, पुत्र, काका, भतीजा, मामा, भानजा आदि हो सकता है। वह अपने पुत्र की दृष्टि से पिता है तो इसी तरह अपने पिता की दृष्टि से पुत्र भी। ऐसे भी अन्य सम्बन्धो के व्यवहारिक उदाहरण आप अपने चारो ओर देखते है। इन रिश्तो की तरह ही एक व्यक्ति मे विभिन्न गुणो का विकास भी होता है। अतः यही दृष्टि वस्तु के स्वरूप मे लागू होती है कि वह भी एक साथ सतअसत, नश्वर-अनश्वर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, क्रियाशील-अक्रियाशील नित्य-अनित्य गुणो वाली हो सकती है। जैसे एक ही व्यक्ति मे पुत्रत्व व पितृत्व दो विरोधी गुणो का

सद्भाव सभव है, क्योकि उन गुणो को हम विभिन्न दृष्टियो से देख रहे हैं। उसी प्रकार एक ही वस्तु विभिन्न अपेक्षाओ से नित्य भी हो सकती है तथा अनित्य भी। जब स्थूल सासारिक व्यवस्था भी सापेक्ष दृष्टि पर टिकी हुई है तो वस्तु के सूक्ष्म स्वरूप को हठ मे जकड़कर एकान्तिक बताना कभी सत्य नही हो सकता। यह ठीक वैसा ही होगा कि एक ही व्यक्ति को अगर पुत्र माना जाता है तो वह पिता कहला नही सकता और इसकी असत्यता प्रत्यक्षत सिद्ध है। चाहे तो यह सासारिक व्यवस्था ले लीजिए या सिद्धातो की स्वरूप विवेचना—सब सापेक्ष दृष्टि पर अवलम्बित है। अगर इस दृष्टि को न माना जायगा व सवन्धित सारे पक्षो के आधार पर वस्तु के स्वरूप को न समझा जायगा तो एक क्षण मे ही जागतिक व्यवस्था मिट सी जायगी। आश्चर्य यही है कि स्थूल रूप से जिस सापेक्ष दृष्टि को अपने चारो ओर सासारिक व्यवहार मे देखा जाता है, उसी सापेक्ष दृष्टि को वैचारिक सूक्ष्मता के क्षेत्र मे भुला दिया जाता है और फलस्वरूप व्यर्थ के विवाद उत्पन्न किये जाते है। एक क्षण के लिए सोचिये कि अगर एक व्यक्ति को 'एकान्त रूप से' पिता ही समझा जाय तो यह कथन कितना वेहूदा होगा कि वह पिता ही है यानी सवका पिता है, आपके पिता का भी पिता है। अत साफ है कि एकान्त दृष्टिकोण को सामने रखकर उसके सम्वन्धित अन्य दृष्टिकोणो को न समझने का हठ करना भी ठीक इसी तरह वेहूदा कहा जायगा। एकान्त दृष्टिकोण एक तरह से सत्य ज्ञान को विशृंखलित करने वाला है।

यहाँ यह शका की जा सकती है कि एक ही वस्तु मे दो विरोधी धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं? शकराचार्य ने यह आपत्ति उठाई थी कि एक ही पदार्थ एक साथ नित्य और अनित्य नही हो सकता जैसे कि शीत और उष्ण गुण एक साथ नही पाए जाते किन्तु शका ठीक नही है। विरोध की शका तो तव उठाई जा सकती है जवकि एक ही दृष्टिकोण—अपेक्षा से वस्तु को नित्य भी माना जाय और अनित्य भी। जिस दृष्टिकोण से वस्तु को नित्य माना जाय, उसी दृष्टिकोण से यदि उसे अनित्य भी माना जाय तव

तो अवश्य ही विरोध होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टियो की आज्ञा से भिन्न-भिन्न गुण मानने मे कोई विरोध नही आता, जैसे एक व्यक्ति उसके पुत्र की अपेक्षा से पिता माना जाता है व पिता की अपेक्षा से पुत्र, तब पितृत्व व पुत्रत्व के दो विरोधी धर्म एक ही व्यक्ति मे अपेक्षा भेद से रह सकते हैं, उसमे कोई विरोध नही होता। विरोध तो तब हो जब हम उसे जिसका पिता माना है, उसी का पुत्र भी माने। इसी तरह भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्म मानने मे कोई विरोध नही होता। मैं यहाँ किसी एक ही दिशा मे बैठा हुआ हूँ। लेकिन मेरे सामने आप लोग अलग-अलग दिशाओ मे मुख किए बैठे हैं और अतः आप लोग अपनी-अपनी अपेक्षा से मुझे अलग-अलग दिशा मे बैठा हुआ बतला सकते हैं। जो मेरे सामने बैठे हैं, उनकी अपेक्षा से मैं पूर्व मे बैठा हुआ हूँ और पीछे वालो की अपेक्षा से पश्चिम मे तथा इसी तरह दायें और बायें बैठे वालो की अपेक्षा से दक्षिण व उत्तर मे। इस तरह अपेक्षा भेद से मुझे अलग-अलग दिशा मे बैठा हुआ बतलाने मे कोई विरोध पैदा नही होता। एक ही वस्तु छोटी और बडी दोनो हो सकती हैं परन्तु उनसे बडी व छोटी वस्तु की अपेक्षा से। अतः विरोध की शका प्रकट करने मे शकराचार्य ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से समझने का प्रयास नही किया प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद न तो विरुद्ध धर्मवाद है और न सशयवाद। वह तो वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाला यथार्थवाद है।

जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने वाला व नष्ट होने वाला और फिर भी स्थिर रहने वाला बताया गया है। "उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्" यह पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या है। आश्चर्य मालूम होता है कि नष्ट होने वाली वस्तु भला स्थिर कैसे रह सकती है, किन्तु स्याद्वाद ही इसको सुलझा देता है। ये तीनो पर्याये सापेक्ष दृष्टि से कही गई है। एक दूसरे के बिना एक दूसरे की स्थिति बनी नही रह सकती है। उदाहरण स्वरूप समझ लीजिये कि एक सोने का कडा है और उसे तुडा कर जंजीर बनाली गई तो वह सोना कड़े की अपेक्षा से नष्ट हो गया एव

जजीर की अपेक्षा से उत्पन्न हो गया, किन्तु स्वर्णत्व की अपेक्षा से वह पहले भी था और अब भी है, वह उसकी स्थिर स्थिति हुई। पदार्थ की पर्याय बदलती है। उसमे पूर्व पर्याय का विनाश व उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती रहने पर भी पदार्थ का द्रव्य स्वरूप उसमे कायम रहता है। इस तरह पर्यायार्थिक नय (दशा परिवर्तन) की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्यार्थिक नय (स्थिर स्थिति) की अपेक्षा से नित्य भी है। यही स्याद्वाद का मार्मिक स्वरूप है।

स्याद्वाद का यह स्वरूप एक ओर जैसे सभी दार्शनिक विवादो को समाप्त कर देता है, उसी तरह दूसरी ओर जगत के समस्त वैचारिक सघर्षो का भी समन्वयात्मक समाधान प्रस्तुत करता है। आज जब कि भीषण रक्तपात, वैर-विरोध, घृणा, हिंसा, वर्ग-विद्वेष, साम्प्रदायिकता व स्वार्थ-परता के लम्बे युग के अत्याचारो से विश्व मे भयकर अशान्ति फैली हुई है, मनुष्यो के मस्तिष्को का शान्तिपूर्वक एकीकरण विश्व शान्ति का सबसे बड़ा योगदान साबित हो सकता है। दो दो विश्व-युद्धो के वीभत्स तांडवकारी दृश्य आज भी सबकी आंखो के सामने घूम जाते हैं—वह भुखमरी, वह बर्बरता और सबसे बड़ा हिरोशिमा (जापान) पर फेंके गये उस अणुबम का विनाशक धड़ाका। परन्तु आश्चर्य कि भले ही ऊपर से शान्तिवार्ताएँ चल रही हैं, युद्ध समाप्ति के नारे लगाये जा रहे हैं, किन्तु अणुबम से भी भयकर उद्‌जन बमो व नत्रजन बमो का उत्पादन किया जा रहा है और उस समय के महा-विनाश की कल्पना तक नही की जा सकती, जब कभी दुर्भाग्य से ऐसे शस्त्र काम मे लाये जाएंगे।

हमारे मध्य जो अन्दर-ही-अन्दर अशान्ति की ज्वाला बढ़ती जा रही है, उसे एक तरह से दिमागो या विचारो के युद्ध का ही नाम दिया जा सकता है। यह युद्धो का नया तरीका है और सबसे अधिक खतरनाक तरीका भी। जब तक विचारो की लड़ाई समाप्त नही होगी, तब तक इस बात की शंका कतई नही मिट सकती कि दुनिया के पटल पर से युद्धो का गौरव भी खत्म हो सकता है। विचारो की कशमकश समाप्त होने पर ही मानव

समाज का मस्तिष्क सन्तुलित व समन्वित हो सकेगा और तभी वह अपनी बर्बरता के पिछले इतिहास को हमेशा के लिए भुला सकेगा।

आज इस तथ्य मे कोई सन्देह नही कि विचारो की हिंसक प्रतिद्वन्द्विता के कुपरिणामो को ससार अनुभव भी करने लगा है और उसके फलस्वरूप चाहे नेता लोग न चाहते हुए भी बोल रहे हो, पर कहा जा रहा है कि साम्यवाद व पूंजीवाद दोनो विचार प्रणालियां शान्तिपूर्वक एक साथ चलकर अपनी-अपनी व्यवस्थाएं कायम रख सकती है। यह अनुभूति इस सत्य की ज्वलन्त प्रतीक है कि अब मनुष्य विचारो के दु खद सघर्ष को सहन करते रहने की स्थिति मे नही है और इसलिए मानव समाज को अब स्याद्वाद के समन्वयवादी व अपेक्षावादी सिद्धान्त की ओर झुकना ही होगा। यही सत्य को साक्षात करने का रास्ता है और इसी मे मानव जाति के शान्तिपूर्ण विकास का रहस्य छिपा हुआ है।

स्याद्वाद के सिद्धान्त को जैनदर्शन का हृदय कहा जाता है। जैसे हृदय शुद्ध किया गया सभी अगो मे समान रूप से सचारित करता न रह सके तो शरीर का टिकना कठिन ही होगा। उसी तरह स्याद्वाद सभी सिद्धान्तो को समझने में समन्वय की उदार भावना की बराबर प्रेरणा देता रहता है। जैनदर्शन की सबसे बडी विशेषता तो यहीं है कि वह अपनी मान्यता के प्रति भी हठवादी (दुर्नयी) नही है। वहां तो सत्य से प्रेम किया जाता है और निरन्तर अपने स्वरूप को सत्य के रग मे रगा रखने मे परम सन्तोष की अनुभूति की जाती है। सत्य की आराधना जैनदर्शन का प्राण है। वह न अपनी मान्यता के विषय मे दुराग्रही है और न दूसरो की मान्यताओ का किसी भी रूप मे तिरस्कार करना चाहता है। वह तो केवल यह चाहता है कि समस्त विश्व पूर्ण सत्य के स्वरूप को समझने के सही राह पर ही आगे बढे।

स्याद्वाद एक तरह से ससार के समस्त विचारको व दार्शनिको का आह्वान करता है कि सब अपने आपसी हठवाद व एकागी दृष्टिकोणो के कलह को त्याग कर एक साथ बैठो तथा एक दूसरे की विचारधाराओ को

स्पष्ट रूप से आदान-प्रदान करो। इस तरह जब सामूहिक रूप से व शुद्ध जिज्ञासा व निर्णय बुद्धि से सम्मिलित विचारविमर्श किया जायगा, उनका मन्थन होने लगेगा तो जरूर ही छाछ-छाछ पेदे मे रह जायगी और साररूप मक्खन ऊपर तैर कर आ जायगा। तब स्याद्वाद का सन्देश है कि उन विचारधाराओ के समूह मे से असत्य अशो को निकाल कर अलग कर दो, हठवाद, एकान्तवाद और अपने ही विचारो मे पूर्ण सत्य मानने की दुराग्रही वृत्तियो को पूरे तौर पर तिलाजलि दे दो। इसके बाद सबकी मस्तिष्क और हृदय की शक्तियो के सम्मिलित सहयोग से सत्य के भिन्न-भिन्न खडो का चयन करो उन्हे जोड कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर उन्मुख होओ। सूंड ही हाथी है, पांव ही हाथी है या पीठ ही हाथी है, मान सकते रहने से कभी भी हाथी का असली स्वरूप समझ मे नही आयगा बल्कि ऐसा हठाग्रह करने पर तो ऐसा मानना एकागी सत्य होने पर भी हाथी के पूर्ण स्वरूप की दृष्टि से असत्य ही कहलायगा। अत सिद्धान्तो और विचारो के क्षेत्र मे इसे गभीरतापूर्वक समझने व सुलझाने की जरूरत है कि सूंड ही हाथी नही है। पांव हाथी नही है या पीठ ही हाथी नही है, बल्कि ये सब अलग-अलग हिस्से मिलकर पूरा हाथी बनाते हैं। आज उन अधो की तरह हाथी देखने की मनोवृत्ति चल रही है—क्या तो दार्शनिक क्षेत्र में और क्या वैचारिक क्षेत्र में उसे इस स्याद्वाद के प्रकाश मे सुष्ठु बना देने का आज महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है। क्योकि अगर वर्तमान में फैला हुआ विचार सघर्ष और अधिकाधिक जटिलता का जामा पहनता गया तो आश्चर्य नही कि एक दिन पिछले युद्धों से भी अधिक खौफनाक युद्ध ससार व मानव जाति की विकसित विचारणीय सस्कृति को बुरी तरह तहस-नहस कर डालेगा।

विश्व शान्ति का प्रश्न धर्म, सभ्यता व सस्कृति के विकास तथा समस्त प्राणियो के हित का प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र मे कार्य कर रहा हो, इस प्रश्न से अवश्य ही सम्बन्धित है। इस प्रश्न की सही सुलझन पर ही मानवता की वास्तविक प्रगति का मूल्याकन किया जा सकता है और विश्व शान्ति की नीव को मजबूत करने का आज की परिस्थितियो में

सबसे प्रमुख यही उपाय है कि चारो ओर फैला हुआ विचारो का विषैला विभेद शान्त किया जाय और एक दूसरे को समझने के उदार दृष्टिकोण का प्रसार हो सके ऐसे व्यापक वातावरण का सर्जन जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त की सुदृढ आधारशिला पर ही किया जा सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति व सामूहिक रूप से विभिन्न राष्ट्र व समाज इस स्याद्वाद दृष्टि को अपने वैचारिक क्रम मे स्थान देने लगे तो विश्व शान्ति की कठिन पहेली सहज ही मे शान्ति व सद्भावना से हल की जा सकती है। इस महान् सिद्धान्त के रूप मे जैनधर्म विश्व की बहुत बडी सेवा बजाने मे समर्थ है, क्योकि अन्य दर्शनो की तरह जैनधर्म कभी भी साम्प्रदायिकता के बन्धनो मे नही बधा और इसलिए अपनी व्यापकता व विशालता को निभाता हुआ विश्व के समस्त प्राणियो के हितसम्पादन का महान् सन्देश गुजायमान करता रह सका। जैनदर्शन के अन्य सिद्धान्तो की विवेचना अन्यत्र की गई है, किन्तु यदि हृदय स्वरूप इस एक सिद्धान्त पर ही पूरा-पूरा ध्यान दिया जाय तो कई विषय समस्याएँ सुलझ जायेंगी और तब मानवता के विकास का मार्ग निष्कंटक हो सकेगा।

उपसहार रूप मे मुझे यही कहना है, जो कि इस शास्त्रवाक्य मे कहा गया है— "अथि सत्थेण परेण परं, नत्थि असत्थ परेण परं"

सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम साध्य है। जीवन उन अनुभवो व विभिन्न प्रयोगो का कर्मस्थल है, जहाँ हम उनके ज़रिये सत्य की साधना करते हैं, क्योकि सत्य ही मुक्ति है, ईश्वरत्व की प्राप्ति है। जीवन के आचार-विचार की सुघडता व सत्यता मे व्यक्ति, समाज व विश्व की शांति रही हुई है तथा इसी चन्द्रमुखी शान्ति के शुभ्र वातावरण मे ऊँचे-से-ऊँचा आध्यात्मिक विकास भी सबके लिए सरल बन सकता है। अत विचारो की उदारता, पवित्रता शान्तिपूर्ण प्रेरणा की जागरुकता के लिए आज स्याद्वाद के सिद्धान्त को बडी बारीकी से समझने, परखने व अमल मे लाने की विशेष आवश्यकता आ पड़ी है, जिसके लिए मैं आशा करूँ कि सब तरफ से उचित प्रयास अवश्य किये जायेंगे।—महावीर भवन, बारादरी, चांदनी चौक, दिल्ली

कर्मवाद का अन्तर्रहस्य

"सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय....."

मनुष्य स्वयं ही अपने व समाज के भाग्य का निर्माता है—इस तथ्य को जब-जब उससे भुला देने की कोशिश की गई, तब-तब मानव समाज मे शिथिलता व अकर्मण्यता का वातावरण फैला। किसी अन्य पर अपने निर्माण को आश्रित बनाकर विकास करने का उत्साह मनुष्य मे नही बन पड़ता, चाहे वैसा आश्रय खुद ईश्वर को ही सौंपा गया हो। मनुष्य गतिशील प्राणी है और जहाँ भी उसे गतिहीन बनाने का प्रयास किया गया कि उसका विकास रुक गया। मनुष्य स्वयं ही पर आश्रित रह सकता है, किसी अन्य पर उसे आश्रित बताकर उसको गतिशील नही बनाया जा सकता है।

सुविधि जिनेश्वर को की गई उपर्युक्त प्रार्थना मे भी इसी तथ्य को प्रकाशित किया गया है कि स्वयं आत्मा ही अपने पुरुषार्थ से विकास करता हुआ परमात्म पद को प्राप्त करता है। ईश्वरत्व कोई ऐसा अलग पद नही है, जहाँ कभी भी आत्मा की पहुँच न हो या ईश्वर ही धरती पर अवतार लेकर महापुरुष के रूप मे जगदुद्धार करता है तथा साधारण आत्मा को वह उठती नही, ऐसी मान्यता जैनधर्म नही रखता। वह तो हर आत्मा की महान शक्ति मे विश्वास करता है। जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, भक्त स्वयं भगवान बन कर दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है और आराधक एक दिन आराध्य के रूप मे अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करता है और जैनधर्म के इस प्रगतिशील विकासवाद का मूलाधार सिद्धान्त है, कर्मवाद का सिद्धान्त।

भारत की नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पौराणिक, योग आदि अन्य सभी दार्शनिक परम्पराएं आत्मा और परमात्मा के बीच मौलिक भेद को स्वीकार करती है। उनका मानना है कि आत्मा विकास करता है, निर्वाण

भी प्राप्त करता है और ईश्वर के स्थान मे प्रवेश भी करता है, किन्तु स्वय ईश्वर नही बनता। वह सिर्फ ईश्वरीय अश बनकर ही निवास करता है। उनके इस कथन की पृष्ठभूमि यह है कि ईश्वर तो सिर्फ एक है व एक ही रहेगा। परन्तु जैनधर्म इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करता और उसका कारण ईश्वर को मानने के मूलरूप मे विभेद का अस्तित्व है। ईश्वर एक है व एक रहेगा, ऐसा अन्य दर्शन मानते हुए यह बताते है कि ईश्वर सृष्टि का रचयिता भी है। अतः ईश्वर अनेक मानने मे आपत्ति पडती है। लेकिन जैनधर्म शुद्ध मानव-विकासवाद की आधारशिला पर स्थित है और इसलिए वह ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व को नही मानता। परिणामस्वरूप जैनदर्शन मे ईश्वरत्व एक पद माना गया है जो आत्मा के चरम विकास का सुफल है और इसलिए मुक्तात्मा ही ईश्वर है। उसके समान ही सभी मुक्तात्माएँ भी शुद्ध, बुद्ध. निरजन, निर्विकल्प रूप ग्रहण कर लेती हैं। आत्म-द्रव्य की मौलिक अवस्था की अपेक्षा आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही। सिद्ध और ससारी जीवो के बीच का भेद वास्तविक नही, सिर्फ कर्ममूलक है और इस भेद को साधना की शुद्धता से पाटा जा सकता है।

अतः कर्मवाद का सिद्धान्त इस सत्य का प्रतीक है कि प्राणी के लिए कोई भी विकास, चाहे वह चरम विकास के रूप मे ईश्वरत्व की प्राप्ति ही क्यो न हो, असभव नही। वह स्वय कर्त्ता है और फल भोक्ता है। अब इस कर्मवाद की व्यवस्था का विश्लेषण किया जाय, उससे पूर्व आत्मा के स्वरूप व उसमे होने वाले अन्तर को इस जगत-क्रम की पार्श्वभूमि मे समझ लेना आवश्यक है।

जैनदर्शन का यह मतव्य है कि आत्मा का मूलस्वरूप परम विशुद्ध अनन्त ज्ञान-दर्शन सुख एव शक्तिमय तथा निरजन, निर्विकल्प, मुक्त और स्वतंत्र है। अपने मूलरूप मे आत्मा सूर्य के समान प्रकाशमान है किन्तु जीवात्मा के अपने अकर्त्तव्यो के बादल एकत्रित हो-हो कर आत्मा को ढकते रहते हैं। यह क्रम सृष्टि मे चलता रहता है, जिसकी कोई आदि नही। जैनधर्म का मानना है कि सृष्टि का क्रम आदि व अन्त विहीन है और

इसलिए ईश्वर की रचना नही। सृष्टि तो स्वत. परिणमनशील है। जीव और जड के संयोग से इसकी गति चलती रहती है और यह सयोग ही विभिन्न कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कारण तथा तदनुसार फलाफल का परिणाम होता है। तो इस सृष्टि की गति मे आत्मा पर आवरण चढता जाता है और उसी आवरण को धीरे-धीरे साधना के बल पर जब काटना शुरू किया जाता है तो एक दिन वही आत्मा अपनी विशुद्ध स्थिति मे पहुंच जाता है एव वही विशुद्ध स्थिति मुक्त या ईश्वरत्व की स्थिति है।

तो हमने देखा कि संसार मे गति करते हुए जीवात्मा अपने विशुद्ध स्वरूप से ढका हुआ रहकर उससे विस्मृत व विशृंखलित-सा बन जाता है और उसकी इस विशृंखलता की स्थिति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नही होता। अत यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उस विशृंखलता को बनाने और मिटाने वाली कौन शक्ति है? वास्तव मे वह शक्ति तो चेतन ही है किन्तु उस विशृंखलता का लेखा-जोखा बनाये रखने वाले जड़ कर्मपुद्गल होते है, जिनके आधार पर जीवो को उनके कार्यों का यथावत् परिणाम मिलता रहता है। इस तरह यह कर्मवाद का सिद्धान्त चेतन को कर्मण्यता व आत्म-निष्ठा की ओर सजग रखता है किन्तु उसके साथ ही कर्मपुद्गलो के बन्ध का विश्लेषण करके उसकी सजगता को स्थायी बनाये रखना चाहता है। अपना अकर्त्तव्य कभी भी मिट नही जायगा, बल्कि आवरण की एक परत बनकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को घेरता रहेगा और जब तक एक-एक करके वे आवरण की सब परतें न कट जायेंगी, आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप मे नही पहुँच सकता, ऐसी विचारणा से व्यक्ति के अपने कार्यों मे एक ओर जहां सन्तुलन व सयमन आता है, वहां उसी मात्रा मे कर्मण्यता का उत्साह व पुरुषार्थ की प्रदीपता भी छा जाती है।

कर्मवाद की विचारणा के पीछे जो मजबूती है, वह स्वतः प्रेरित फलवाद की धारणा है। अगर फलवाद का कार्य ईश्वर पर छोडा जाय, जैसा कि अन्य दर्शन मानते है तो वही आश्रित अवस्था पैदा हो जाने पर मनुष्य मे से स्वाश्रय का भाव जाता रहेगा और तदुपरान्त प्रगति की ओर

बढने की वैसी लक्ष्यसाधित विचारणा उसमे बनी न रह सकेगी। अन्य सभी दर्शन कर्म व फल की परम्परा को स्वीकार करते है किन्तु "मा फलेषु कदाचन" के साथ। कर्म जीव कर सकता है किन्तु फल तो ईश्वर के हाथ है, उसी की प्रेरणा से सब-कुछ चुकता है। जीव अपने सुख-दुःख मे स्वतत्र नही है—

अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुख-दुःख यो.।
ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रयेव वा ॥

तो इस फलवाद की दृष्टि को गम्भीरतापूर्वक पहले समझ लेना जरूरी है क्योकि इसकी समझ के बिना कर्मवाद का वास्तविक स्वरूप ठीक समझ मे नही आ सकता।

जैनधर्म कर्म-फलदाता के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। जैसे ईश्वर सृष्टि रचना के पचडे मे नही, उसी तरह उसकी गति के पचड़े मे भी नही। जिस प्रकार जीव कर्म करने मे स्वतत्र है उसी तरह फल प्राप्त करने मे भी। वही शुभाशुभ कर्म करता है और उनका शुभाशुभ फल पाता है। जीव सम्बद्ध कर्म में ही यह स्वभाव है कि वह अपने कर्त्ता को उसके यथावत् फल से प्रभावित कर देता है। यह बात मैं दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दूं। मनुष्य चेतन है और मदिरा जड है, किन्तु जब एक मनुष्य मदिरा का पान कर लेता है तो मनुष्य से वह सम्बन्ध होने के कारण इतनी शक्तिशाली बन जाती है कि मनुष्य नशा न आने देने की कोशिश भी करे किन्तु नशा लाएगी ही। किन्तु इसमे यह मानने की जरूरत नही पडती कि मनुष्य मदिरा पीता है, ठीक है परन्तु उसे नशा देने के लिए अर्थात् मदिरा पीने का फल प्राप्त करने के लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता पडेगी। जिस तरह मदिरा स्वय अपने पीने वाले को फल भुगता देती है, उसी तरह कार्य करने के साथ उस स्वभाव के कर्मपुद्गल, जो जीव के साथ भुगता देते हैं। अतः जैनधर्म ईश्वर प्रदत्त फलवाद को न मानकर स्वत कर्मफलवाद मे विश्वास रखता है।

एक बात और कही जाती है कि चूंकि प्राणी अच्छे और बुरे दोनो

तरह के कार्य करता है किन्तु वह बुरे कर्मों का फल भोगना नही चाहता, अत ईश्वर न्यायाधीश के समान उसे उचित फल देता है और न्याय-व्यवस्था को कायम रखता है। किन्तु इस तर्क मे भी कोई बल नही है। क्योकि मदिरा पीना तो मनुष्य के हाथ था, किन्तु पीने के बाद उसके प्रभाव को भुगतना पडता है। तेल मर्दन किया हुआ व्यक्ति बालूकणो मे न बैठे तब तक उसके वश की बात पर बैठने के बाद तो वे कण चिपक ही जायँगे। उसी तरह कर्म करने मे आत्मा स्वतन्त्र है किन्तु स्वत. चालित प्रणाली द्वारा यदि निकाचित् कर्मबन्ध हो जाय तो उसके फल को न रोका या निकचित् की अपेक्षा बदला ही जा सकता है। अपने आप काम करने वाली तोलने की मशीन मे आप इकन्नी डाल देंगे तो बाद मे तो तोल का टिकट बाहर निकल ही जायगा, उसे रोका नही जा सकता। इकन्नी न डालना वह दूसरी बात थी, लेकिन डालने के बाद तो उस डालने वाले का भी कोई वश नही रहता, उसमे से टिकट निकल ही पडेगा। अतः कर्म करने के बाद प्राणी को 'Self regulcter' की तरह जो किया है, उसका यथावत् फल पाना ही पडेगा। परन्तु जिस तरह अपने आप काम करने वाली तोलने की मशीन पर किसी मशीनमैन को बिठाने की जरूरत नही रहती, वह तो अपने आप ही काम कर लेती है, उसी प्रकार जब स्वतः प्रेरित व्यवस्था से प्राणी को अनिवार्य रूप से अपने कर्मो का यथावत् फल प्राप्त हो जाता है तो न्यायाधीश का रूप लेकर ईश्वर को बीच मे आने की कोई आवश्यकता नही रहती। कर्मफल के इस व्यवस्थाक्रम मे जीव और जडकर्म के अतिरिक्त और किसी की भी अपेक्षा नही है।

इस सम्बन्ध मे एक और शका उठाई जाती है कि कर्म तो पोद्गलिक है, जड है, उनमे फल देने की शक्ति कहाँ से आई ? उसके लिए तो चेतन शक्ति चाहिए और इसलिए फलदान का आधार ईश्वर को ही मानना पडेगा। इस शका का समाधान भी ऊपर ही के विश्लेषण से हो जाता है। कर्म स्वय जड है, यह सही है किन्तु जब उनका सम्पर्क जीव के साथ होता है तो उनमे उस सम्पर्क से ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है जिसके कारण वे

जीव पर अच्छा बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। जैसे नेगेटिव और पोजिटिव तत्व जब तक अलग-अलग रहते हैं तब तक उनसे बिजली पैदा नही होती, किन्तु जब ये दोनो तत्व मिल जाते हैं तो एक शक्ति-बिजली पैदा हो जाती है। आज के विज्ञान ने तो इस तथ्य को एक नही कई प्रयोगो से सिद्ध कर दिया है। जड़ स्वय गतिशील नही होता किन्तु चेतन द्वारा सम्बन्धित होने पर प्रभावशील हो जाता है। एक मदिरा की बोतल भरी है पर उस रूप मे वह मनुष्य पर कोई असर नही कर सकती, किन्तु ज्यो ही मनुष्य उसे पी जाय, उसका असर साफ होने लगेगा और आपको मदिरा की शक्ति स्पष्ट दीखने लगेगी। किन्तु यह ध्यान मे रखने की कोई चीज़ है कि उस शक्ति की उत्पत्ति मदिरा और मनुष्य के सम्पर्क से हुई। अतः कर्मफल का चुनाव जीव और कर्म पुद्गल के सम्पर्क का ही परिणाम है, उसके बीच ईश्वर को डालना तो उसको ईश्वरत्व से छुटाकर सासारिकता के पचडे मे डालना है। क्योकि अगर ईश्वर को फलदाता माना जाय तो उसे सारे सासारिक मनोविकारो मे आना पड़ेगा, कारण कि सृष्टा भी तो वही माना जाता है। वही शेर को भी पैदा करे और बकरी को और उसी की प्रेरणा से शेर अपने शिकार को ढूंढता चलता हुआ बकरी के पास पहुँचा जाय और फिर उसी की प्रेरणा से वह उसे खा जाय, तब फिर ईश्वर खडा होकर शेर को बकरी की हत्या का कुफल दें, ऐसा व्यवस्थाक्रम समझ मे न आने लायक ही क्रम प्रतीत होता है। ईश्वर का स्वरूप रागद्वेष रहित, विकारहीन, परम दयालु, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान माना गया है, परन्तु अगर उसे अनुग्रह, निग्रह करने वाला, ऊँच-नीच पैदा करने वाला व उन्हे कर्तव्याकर्तव्य दोनो की प्रेरणा देने वाला और फिर उनके लिए ही दड-विधान करने वाला माना जायगा तो इस सृष्टि के सारे दु खो, सारे पापो और सारे विकारो का उत्तरदायित्व उसके ही मत्थे मढा जाना चाहिए। यही नही किन्तु अपनी ही रचना का फल निर्दोष प्राणियो को भुगताने की एवज मे उसे क्रूर भी कहा जाना चाहिए। दूसरे अगर ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है तो कर्मों का प्राधान्य ही हुआ, ईश्वर का ईश्वरत्व ही क्या? किन्तु वास्तव

SHREE JAIN JAWAHAR PUSTAKALAYA
CHINASAR (BIKANER)

मे ऐसा व्यवस्थाक्रम है नही और ईश्वर फलदाता के रूप मे समझा नही जाना चाहिए। जीव स्वय कर्मों का कर्त्ता है और स्वय फल का भोक्ता है, यही नुनगत सिद्धान्त है। कहा भी है—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात् जीव स्वय जो पहले कर्म करता है, उसी का शुभाशुभ फल प्राप्त होता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया गया शुभ या अशुभ फल उसे मिले तो उसके किये हुए कर्म निरर्थक हो जाते हैं।

यहाँ एक शका की जा सकती है कि जब शुभ कर्म का फल शुभ ही तथा अशुभ कर्म का फल अशुभ ही होता है फिर कई लोग शुभ कर्म करते हुए अशुभ फल भोगते क्यो देखे जाते हैं व इससे विपरीत भी। इसका समाधान यह है कि तीनो कालो की पारस्परिक सगति पर कर्मवाद अवलम्बित है। वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर व भविष्य का वर्तमान के आधार पर होता है। अतः शुभ कर्म का फल अशुभ व इसके विपरीत अवस्था मे यह मानना चाहिए कि वह फल उसके पूर्वजन्मकृत कर्मो का मिल रहा है। जो अभी किया जा रहा है, उससे उसके भविष्य का निर्माण होगा।

अब जैन दर्शन की मान्यतानुसार कर्म के स्वरूप पर मैं आपके सामने कुछ रोशनी डालना चाहूँगा।

प्रमुखतया कर्म के दो रूप माने गये हैं—(१) भावकर्म और (२) द्रव्यकर्म। भावकर्म आत्मगत सस्कार-विशेषो की उपज है जैसे मोह व रागद्वेष आदि जो अज्ञान के कारण आत्मा की वैभाविक अवस्था के द्योतक होते हैं। जिनको वेदान्त मे माया, सांख्य मे प्रकृति, बौद्ध मे वासना, नैयायिक मे अज्ञान आदि नामों से कहा गया है। इन भावकर्मों के द्वारा आत्मा अपने पास-पास रहे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओ को आकृष्ट करता है

ओर उन्हे विशिष्ट रूप देता है, जिन्हे द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहा जाता है। जीव की रागद्वेष रूप जैसी परिणति उस समय होती है, उसके अनुसार उन भौतिक सूक्ष्म परमाणुओ मे कर्मफल देने वाली शक्ति उसी प्रकार पैदा होती है जिस तरह संघर्षण से विद्युत। ऐसी कर्मफल शक्ति युक्त कार्मण वर्गणा को 'कर्म' कहते हैं। आत्मा इन सूक्ष्म परमाणुओ को अपनी ओर उसी तरह आकृष्ट करता है जिस प्रकार ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन पर बोले गये शब्दो को बिजली के जरिये फेंके जाने से वे सारे वायुमण्डल से सम्बद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक क्रिया का उसके आसपास के वातावरण मे असर होता है जीव भी जब मन, वचन या काया से कोई क्रिया करता है तो उसके समीपवर्ती वातावरण मे हलचल मचती है और कार्मण वर्गणो के सूक्ष्म परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते है। इस तरह यह कर्मवाद की प्रक्रिया का क्रम चलता है।

इस प्रक्रिया द्वारा जो पुद्‌गल आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं, वे ही जीव को शुभाशुभ फल का सवेदन कराते हैं तथा जब तक ये सम्बद्ध रहते हैं, आत्मा को मुक्ति की ओर प्रयाण करने से रोकते हैं। एक योनि से दूसरी योनि मे भी आत्मा को ये ही भटकाते हैं तथा ये ही बादल बनकर आत्मा के सूर्य को आच्छादित किये रहते हैं।

कर्मवाद का यह सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन की ही मौलिक देन है। अन्य दर्शनो मे जन्मजन्मान्तर की परम्पराओ का वर्णन है किन्तु कार्मण शरीर की सूक्ष्म मान्यता अन्यत्र नही मिलती। हाँ, वेदान्त मे माना गया लिंग शरीर व न्याय वैशेषिक परम्परा का अणु रूप मन इसी मान्यता की अस्पष्ट छाया अवश्य है। जैन साहित्य मे कर्म प्रवृत्ति की अमुक काल तक फल देने की शक्ति, फल देने की तीव्रता या मन्दता और आत्मा के साथ बंधने वाले कर्म परमाणुओ का प्रमाण जिन्हे पारिभाषिक शब्दो मे प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध कहते है आदि का बड़ा ही गहरा विशद् वर्णन किया गया है, जिन्हे समझने के लिए काफी विस्तार की आवश्यकता होगी।

कर्म के विभिन्न भेदो को समझने के पूर्व यह समझना जरूरी है कि वे भेद कैसे पैदा होते है, जब कि कार्मण वर्गणा के पुद्गल तो एक-से ही होते है ?

जिस प्रकार भोजन आमाशय मे जाकर पाचन क्रिया द्वारा विभिन्न रूपो मे बदल जाता है, उसी प्रकार जीवन की भावना के अनुसार इन कार्मण पुद्गलो मे भी विभिन्न प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है और वे विविध शक्तियाँ आत्मा की विभिन्न शक्तियो को आच्छादित कर देती है। अत: आत्मा की विभिन्न शक्तियो, गुणो को आच्छादित करने के कारण उन गुणो के आधार पर कर्मों का वर्गीकरण किया गया है। इस तरह कर्मों के भेद आठ माने गये हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—जो कर्म सर्व पदार्थों को स्पष्टतया जानने की आत्मा की शक्ति को ढँक लेता है तथा इस आच्छादन के गाढेपन के अनुसार ही आत्मा की ज्ञानशक्ति न्यूनाधिक हो जाती है। ज्यो-ज्यो आवरणो की परते घटती जायँगी, ज्ञानशक्ति अधिकाधिक प्रकाशित होती जायगी।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—यह आत्मा की दर्शन शक्ति का निरोधक है और उस द्वारपाल की तरह है जो इच्छुक को राजा के दर्शन करने से रोक देता है।

(३) वेदनीय कर्म—आत्मा के अबाध सुख को ढँककर यह उसे वेदना (सुख दु:खकर) का अनुभव कराता है। यह कर्म शहद से सनी हुई छुरी को जीभ से चाटने के समान बताया गया है।

(४) मोहनीय कर्म—मदिरापान की तरह इसके द्वारा आत्मा की विवेक शक्ति ढँक जाती है अर्थात् आत्मा-परमात्मा के विषय मे तथा जड-चेतन के भेद विज्ञान को व तदनुसार सम्यक् आचार रूप विवेक को आच्छादित करता है और वह विकारो व कषायो मे फँस जाता है। यह आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप से ही विस्मृत कर देता है, अत: यह आत्म विकास का सब से बड़ा वैरी है। ज्योही यह पूर्णतया कटेगा, आत्मा अपने मूलरूप-

परमात्मरूप मे पहुँच जायगा।

(५) आयुकर्म—यह आत्मा को जीवन की सीमाओ मे बांधता है और बेडी की तरह उसके स्वातत्र्य गुण पर आघात करता है।

(६) नामकर्म—आत्मा के अमूर्त गुण को घात करके यह चित्रकार की तरह नाना शरीरो के रूप बनाता है और उन्हे विभिन्न रूपो मे रगमच पर लाता है।

(७) गोत्र कर्म—आत्मा की समान शक्ति को विषम बनाने का काम यह कर्म करता है। बाह्य रूप से देश, जाति, गोत्र गत भेदो को यही पैदा करता है।

(८) अन्तराय कर्म—आत्मा के असीम पौरुष का यह कर्म अवरोध किये रहता है। मन्त्रबद्ध सर्प की तरह इस कर्म के वश मे आत्मा अपने पराक्रम को प्रकट करने मे अशक्त बना रहता है।

उपरोक्त कर्मो मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म ये चार आत्मा के मूलगुणो का घात करने से घाती तथा शेष चार अघाति कर्म कहलाते हैं।

रक्त मे फैले हुए रोग कीटाणुओ को नष्ट करने के लिए जैसे उसके सफेद कणो को पुष्ट किया जाता है, उसी तरह जो आत्माएँ अपने पौरुष व सयम की धवलता एकत्रित करते हैं, उस शक्ति द्वारा कर्मों की शक्ति को विनष्ट कर देते है और ज्यो-ज्यो कर्मों की शक्ति नष्ट होती चली जाती है, आत्मा के वे गुण अधिकाधिक स्पष्टता से प्रकट होते चले जाते हैं। इस प्रकार कर्म-जाल को पूरी तरह काट देने पर आत्माएं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और अजर-अमर हो जाती है।

यहां यह समझ लिया जाय कि आत्मा एक बार पूर्ण मुक्त होने के बाद फिर से कर्म से सम्बद्ध नही हो सकती, क्योकि मुक्त अवस्था मे उसकी क्रियाएं समाप्त हो जाती है। फिर कारण के अभाव मे कर्मबन्ध के कार्य का होना भी सभव नही माना जा सकता। जैन धर्म अवतारवाद मे विश्वास नही करता, जिसके अनुसार मुक्त भी पुन अवतार धारण कर ससार

में आता है। अत कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है क्योंकि उसके प्रारम्भ की जानकारी ज्ञान सीमा के बाहर की बात भी है, लेकिन इनका सम्बन्ध शान्त है अर्थात् एक दिन दोनो का सम्बन्ध समाप्त होकर आत्मा अपने मूल रूप मे पहुँच सकता है। अनादि चीज अनन्त ही हो, शान्त नही, ऐसी शंका व्यर्थ है क्योंकि भूगर्भ मे सोना और मिट्टी युगो से साथ रहने पर भी एक दिन खोदकर अलग कर दिये जाते हैं, इसी तरह विकास के प्रयत्नो मे परस्पर सम्बद्ध चेतन व जड़ भी पृथक् हो सकते हैं।

कर्मबन्धन के प्रधान कारणो का उल्लेख करते हुए जैन शास्त्रों मे कहा गया है कि मोह, अज्ञान या मिथ्यात्व, यही सब से बडा कारण है क्योंकि इसी के कारण रागद्वेष का जन्म होता है व तज्जन्य विविध विकारो से आत्मा कर्म से लिप्त हो जाती है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कर्मबन्ध के कारण पर कहा गया है—

"सकषाय त्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादन्ते स बन्धः।"

रागद्वेषात्मक कषाय परिणति से आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलो को जब ग्रहण करता है तो वही बन्ध है तथा इसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बताये गये हैं। यह उल्लेनीय स्थिति है कि कर्म-बन्ध का मुख्य कारण बाहर की क्रियाएँ उतनी नहीं, जितनी आन्तरिक भावनाएँ मानी गई है। शरीर पर घाव करने की बाह्य क्रिया एक-सी होते हुए भी छुरेबाज हत्यारे व सर्जन डॉक्टर के अध्यवसायो का जो अन्तर है, वही कर्मबन्ध की मूल भित्ति है। "मन. एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः।" अत. कर्मबन्धन से बचने के लिए भावनाओ की विशुद्धि की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाना चाहिए। क्रियाओ मे अनासक्त भाव का प्राबल्य बनाने से विकारो का प्रभाव नही पडता। शैलेषी नामकी क्रिया मे तो अनासक्ति क्या, मन, वचन, काया की प्रवृत्तियो का सम्पूर्ण निरोध ही कर लिया जाता है।

कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त होने के लिए नये आने वाले कर्मों को रोकना पड़ता है। इस रोकने को संवर तथा जिन स्रोतो से कर्म आते हैं, उन्हे

कहा गया है। आस्रव का निरोध सवर है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य की शक्तियो से आत्मा के विकार-कर्मों को दूर करना चाहिए ताकि आत्मा कर्म मुक्त होकर अपने मूल रूप की ओर गति कर सके।

इस तरह जैन धर्म का कर्मवाद सिद्धान्त मानव को अपना निज का भाग्य स्वतः ही निर्माण करने की प्रेरणा देने के साथ ही उसे जीवन की ऊँची-नीची परिस्थितियो मे शान्ति, उत्साह, सहनशीलता और कर्मठता का जागरूक पाठ पढाता है। अपने पर छा जाने वाली आपत्तियो के बीच भी वह उन्हे अपना ही कर्मफल समझकर शान्तिपूर्वक सहन करने की क्षमता पैदा करता है तथा उज्जल भविष्य के निर्माण हित सद्प्रयत्नो मे प्रवृत्त हो जाने पर दृढ़ निश्चय कर लेता है। कर्मवीर को मानकर वह पूर्वकृत कर्मो के फल को अपने कर्ज चुकने की तरह स्वीकार करता है। कर्मवाद के जरिये मनुष्य मे स्वावलवन व आत्म विश्वास के सुदृढ भाव जागृत होते है और यह इस सिद्धान्त का सब से वडा व्यवहारिक मूल्य है।

कर्मवाद का यही सन्देश है कि जो स्वरूप परमात्मा का है, वही प्रत्येक आत्मा का है, किन्तु उसे प्रकटाने के लिए विजातीय-भौतिक पदार्थों से मोह हटाकर सजातीय आत्मिक शक्तियो को प्रकाशित करना होगा। सुविधिनाथ की प्रार्थना का यही सार है कि अपने चरम सजातीय परमात्मा से प्रेम करके एक दिन यह आत्मा भी कर्मवन्ध से विमुक्त होकर उनके सदृश स्वरूप ग्रहण कर ले।

स्थान—

दिल्ली

अपरिग्रहवाद याने स्वामित्व का विसर्जन

मनायें कैसे आज महावीर
शान्ति क्रान्ति कर धीर। ध्रुव०

भगवान् महावीर वर्तमान जैन शासन के नायक हैं। यद्यपि २३ तीर्थङ्कर महावीर से पहले हो चुके हैं और महावीर २४ वे तीर्थङ्कर थे। फिर उन २३ तीर्थङ्करो का देश-काल पृथक् था। आज जो उपदेश प्रसारित व जैन शासन चल रहा है, वह भगवान् महावीर द्वारा आदेशित कहलाता है। यह भी सही है कि अन्य तीर्थङ्कर व भगवान् महावीर के उपदेशो मे कोई आधारगत भेद नही है किन्तु फिर भी देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार सचेल-अचेल, चार महाव्रत-पांच महाव्रत आदि मे अन्तर आया। समयानुसार भगवान् महावीर ने उन पर नवीन प्रकाश भी डाला, जिनमे मैं आज अपरिग्रहवाद पर आपको जैन दृष्टिकोण समझाना चाहता हूं।

वैसे आज महावीर जयन्ती मना रहे हैं और श्वेताम्बर दिगम्बर की साम्प्रदायिक दीवारे तोडकर सोचा जाय तो सभी महावीर के समान उपासक हैं। यह आज जो सामूहिक कार्यक्रम बनाया गया है उसे मैं जागृत ही करूंगा।

जयन्ती समारोह तो अच्छा है किन्तु इस अवसर पर दो बातें आप लोग सोचे। पहली तो यह कि महावीर ने किन प्रमुख सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया और उनका सत्य स्वरूप क्या है? यह अध्ययन, उपदेश श्रवण व पटन-पाठन का विषय है। जिस ओर आपकी प्रवृत्ति सजग होनी चाहिए ताकि पहले तो आप स्वयं अपने सिद्धान्तो का मर्म समझ सकें और आप उन्हें समझकर दूसरो को भी समझावें। विशेष प्रचार के अभाव मे अच्छे शिक्षित वर्ग मे भी जैन-धर्म के प्रति कई भ्रान्त धारणाएँ है। जैसे कोई कहते है कि जैनधर्म तो वैदिक धर्म की एक शाखा मात्र है किन्तु यह गलत है अ

ग़लतियाँ तभी मिटेंगी जब आप लोग जैन सिद्धान्तो का विशिष्ट प्रचार करके उनके सही स्वरूप को लोगो के सामने प्रकाशित करोगे। जयन्ती समारोह के दिन इस समस्या को विशेष रूप से दिल मे उतार कर समाधान निकालना चाहिए।

यह एक निरी आस्था की बात नही, ऐतिहासिक चक्र की गति है कि जब-जब चारो ओर विकृतियाँ फैलती हैं, समाज मे गिरावट फैलती है तो उसके विरुद्ध एक क्रान्ति भी भडकती है और वही क्रान्ति घनी-भूत होकर युग पुरुष की रचना करती है। "यदा यदाहि · " का एक दृष्टि से यही रहस्य है। भगवान् महावीर के जन्म के पहले की स्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही विकृति हो चली थी। ब्राह्मणो का जीवन ऐश्वर्य से विलासी हो गया था, "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का नारा लगाकर धर्म के मूल गुणो को भूल रहे थे तब एक क्रान्ति के रूप मे महावीर अवतरित हुए। हमने अभी प्रार्थना की—"शान्ति क्रान्ति कर धीर" के अनुसार उन्होने शान्ति क्रान्ति करके समाज मे एक परिवर्तन पैदा किया और एक तरह से ब्राह्मण वर्ग के स्वयंभू दमन के विरुद्ध उन्होने जन-जन की आत्मा को जगाया कि आत्मा ही अपने सुख दुःख का कर्म है, वही अपना मित्र और शत्रु है—

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाणय सुहाणय।
अप्पा मित्त ममित्तं च, दुप्पडियो सुपड़ियो॥

उस युग मे कुछ लोगो के ऐश्वर्य एवं विलासिता तथा बहुजन के दु ख को देखकर महावीर विकल हो उठे। उन्होने अपने कल्याण के लिए दूसरो की दासता छोड़कर अपनी ही आत्मा को जागृत करने और बलवती बनाने की प्रेरणा दी।

जैनधर्म को महावीर ने जो स्वरूप दिया, वह मुख्यत. प्रवृत्ति-कारक नही होकर, निवृत्तिवादी था। उन्होने बताया कि जीवन नश्वर है और इस नश्वर जीवन मे यदि कोई वृत्ति समस्त दुःखो का मूल है तो वह है ममत्व वृत्ति, गृह दृष्टि। जीवन मे यदि पैनी दृष्टि से देखा जाय तो परिस्थितियाँ या कि पदार्थ सुख या दु ख नही देते बल्कि सुख-दु ख देती है वह दृष्टि जो उन

परिस्थितियो और पदार्थों के सम्बन्ध मे बना ली जाती है। उदाहरण के लिए यदि एक मकान आपके स्वामित्व का है और आपके सामने कुछ लोग आकर उसे गिराने लगे तो आप कितने परेशान हो उठेगे ? आप विरोध करेगे, भागेंगे और आवश्यक कार्यवाही करायेगे। तो उस मकान के साथ चूंकि आपका अपना स्वामित्व अपना ममत्व लगा हुआ है इसलिए उसकी सर्वाधिक चिन्ता आपको होती है। कल्पना कीजिये कि ऐसी ही स्थिति किसी दूसरे के मकान के साथ गुजरती है तो उसके साथ आपका ममत्व नही होने से आपको वह पीडा नही होगी। इसके विपरीत आप अपने निज के मकान मे रहे या कि वैसे ही सुख सुविधा वाले किराये के मकान मे रहे तो भी सुखानुभव मे काफी अन्तर होगा। तो मूल मे पदार्थ नही, उनका ममत्व ही आपके सुख और दुःख का कारण बनता है।

इसीलिए हमारे यहाँ परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्छा परिग्रह।" पदार्थों का नाम परिग्रह नही, उनमे ममत्व रखकर आत्म ज्ञान से संज्ञा शून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है जब जड पदार्थों मे गृद्धि बढ़ती है और प्राणी अपने चेतन तत्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। तो यह स्पष्ट है कि परिग्रह पाप का मूल है और परिग्रह की मूल भावना स्वामित्व की भावना मे छिपी हुई है। मैं अमुक धनराशि का स्वामी हूँ या कि अमुक सम्पत्ति मेरे स्वामित्व मे है। यह ममत्व जब मनुष्य के मन मे जागता है तो आत्मा को कलुषित करने वाले सैकडो दुर्गुण उसमे प्रवेश करने लगते है।

ममत्व से जागता है राग और द्वेष। अपनी सम्पत्ति के प्रति राग कि वह बढे और उसकी रक्षा की जाय और राग जितना गाढा होता जायगा, उस सम्पत्ति की वृद्धि व रक्षा मे वह उचित अनुचित कार्य-अकार्य सब कुछ वेहिचक करने लग जायगा। इसके साथ ही दूसरो की सम्पत्ति से उसके मन मे द्वेष जागेगा और वह उस सम्पत्ति के प्रति विनाश की बात सोचेगा। इस राग और द्वेष की वृत्तियो के साथ मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, अन्याय की कई बुराइयाँ मानव मन मे प्रवेश करती जायगी तथा इन बुराइयो की फैला-

वट मे दुनिया का स्वरूप कैसा "त्राहि माम् त्राहि माम्" हो जाता है उसका अनुभव मैं समझता हूँ वर्तमान व्यवस्था मे आपको हो रहा होगा।

इसीलिए भगवान महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त पर विशेष प्रकाश डाला और निवृत्ति प्रधान मार्ग की प्रेरणा दी। उन्होने साधु व गृहस्थ धर्मो के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

साधु के लिए तो उन्होने परिग्रह का सर्वथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रंथ कहा। पंचम महाव्रत से साधु अपने पास कोई द्रव्य नही रख सकता तथा वस्त्रादि जो भी रखता है वह भी केवल शरीर रक्षा की दृष्टि से याकि लोक-व्यवहार से, वरना उसमे वह जरा भी ममत्त्व नही रखे। साधु को इसीलिए कुछ पदार्थ रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमे ममत्त्व नही होता और ममत्त्व क्यो नही होता कि उन पदार्थों पर वह अपना स्वामित्व नही मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर मे भी ममत्त्व नही होना चाहिए इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय बतलाया गया है। उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने मे आवेगी।

तो भगवान महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थो मे फैले परिग्रह के ममत्व को घटाते रहे।

किन्तु गृहस्थों के लिए जो १२ व्रत उन्होने निर्धारित किये उनमे परिग्रह नियन्त्रण पर विशेष जोर दिया गया है। सिर्फ अपरिग्रहवाद की पुष्टि के लिए पाँचवा अणुव्रत स्थूल परिग्रह विरमण व्रत तथा सातवा उपभोग परिभोग परिमाण विरमण व्रत, दो व्रत रखे गये हैं। अन्य किसी विषय पर इतना जोर नही दिया गया है जितना कि परिग्रह से दूर हटने के विषय पर और इसका स्पष्ट कारण है कि परिग्रह याने मूर्च्छा रूप स्वामित्व ही नये-नये पाप कर्मो की रचना करता है और समाज मे विकृतियाँ व अन्याय गत प्रवृत्तियाँ फैलाता है।

मैं सामाजिक व सयम जीवन पर अपरिग्रहवाद के शुभ प्रभाव को

स्पष्ट करूँ उससे पहले गृहस्थो के ५वे अणुव्रत व ६वें शिक्षाव्रत पर कुछ रोशनी डाल दूँ।

गृहस्थो-श्रावको के ५वे अणुव्रत मे पाँच प्रकार के परिग्रह को सीमित करने व उनमे यथाशक्य दूर हटते जाने के सम्बन्ध मे प्रतिज्ञाएँ की जाती है—

(१) खेत घर आदि का परिमाण—जिसमे मुख्यतः समस्त अचल सम्पत्ति का समावेश हो जाता है।

(२) रूप्यक स्वर्ण का परिमाण—इसमे धातु व मुद्रा सम्बन्धी सम्पत्ति का समावेश किया गया है।

(३) धन और धान्य का परिमाण—इसमे धातु व मुद्रा के अलावा तथा घर बिखरी सामग्री के सिवाय समस्त चल सम्पत्ति को ले लिया गया है।

(४) द्विपद व चौपद का परिमाण—इसमे नौकर-चाकर व पशुओ का परिमाण करने की बात रखी गई है।

(५) घर बिखरी का परिमाण—घर सामग्री को इस अतिचार मे शामिल किया गया है।

इन पाँचो अतिचारो मे करीब-करीब सभी प्रकार की सम्पत्ति का समावेश हो जाता है, किसी प्रकार की सम्पत्ति छूटती नही। अब श्रावक को इस व्रत द्वारा प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति के विषय मे मर्यादाएँ निर्धारित कर लेनी चाहिए कि अमुक-अमुक परिमाण मे ही अमुक-अमुक प्रकार की सम्पत्ति का स्वामित्व वह रखेगा वरना उस मर्यादा से ऊपर प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को वह विसर्जित कर देगा।

एक बार जब श्रावक ऐसी मर्यादाएँ निर्धारित करके व प्रतिज्ञाएँ कर ले तो उससे दो प्रकार के फायदे हो सकते है। एक तो यह कि दिन-रात [illegible] बार प्रतिक्रमण करे [illegible] अणुव्रतो के [illegible] कि उसने उन व्रतो के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का अतिचार तो नही किया है। इस तरह प्रतिक्रमण मे पाँचवे व्रत का

उल्लेख आयगा तो उसे सोचना होगा कि पिछले समय मे इन पाँचो प्रतिज्ञाओ मे से कही वह चूक तो नही गया है, कही उसने निर्धारित मर्यादा से अधिक किसी भी प्रकार की सम्पत्ति तो नही बढा ली है। यह रोज बरोज की नियत्रण उसकी तृष्णा को नियंत्रित कर देता है और सम्पत्ति के स्वामित्व-ममत्व से उसको मुक्त करता जाता है।

उसका दूसरा कर्त्तव्य यह होगा कि जब-जब भी उसे अपरिग्रही निर्ग्रंथ साधुओ का समागम होगा तो उसकी ममत्ववृत्ति अधिकाधिक घटती जाय, इस ओर उसे ध्यान देना होगा। परिणाम यह होगा कि वह अपने निर्धारित परिणाम को घटाता जायगा। कल्पना कीजिये कि उसने धन-धान्य में दस हज़ार की सीमा बनाई तो वह धीरे-धीरे पांच और दो की ओर चलता जायगा। इस क्रम का असर यह होगा कि एक ओर तो उसका प्रपच कम होगा, उसका आत्मा अधिकाधिक विकास की ओर उन्मुख होगा और दूसरी ओर समाज मे सम्पत्ति का सचय घटकर विकेन्द्रीकरण बढता जायगा।

भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए इतनी ही सीमा बनाकर सन्तोष नही किया वरन उन्होने उपभोग-परिभोग खाने-पीने मे काम आने वाली वस्तुओ पर भी मर्यादा बनाने का उल्लेख किया व श्रावक के धन्धो के सम्बन्ध मे भी १५ कर्मादान से प्रतिबन्ध लगाएँ जिनका उल्लेख ७वे अणुव्रत मे किया गया है।

सातवाँ व्रत है—उपभोग, परिभोग, परिमाण, व्रत। इसके २६ बोल आपको इसलिए गिनाना चाहता हूँ कि आप अपरिग्रहवाद की सूक्ष्मता तक उतर कर इन मर्यादाओ मे छिपे गभीर सामाजिक व आत्मिक महत्व को यथाविधि समझ सकें। इस व्रत के २६ बोल इस प्रकार है—(१) उल्लणियाविहं—अगोछा टवाल आदि के प्रकार और सख्या की मर्यादा करना (२) दन्तण विह—दाँतुन करने की सामग्री की मर्यादा करना (३) फलविहं—फल के आवाना आदि फल की मर्यादा करना (४) अब्भगणविह—तैलादि की मालिश करने के लिए मर्यादा करना (५) उवट्टणविहं—उवटन की (पीठी आदि) मालिश की मर्यादा करना (६) मजणविह—

स्नान के लिए पानी का परिमाण करना (७) वत्थविहं—वस्त्रो की मर्यादा करना (८) विलेवणविह—शरीर पर लगाये जाने वाले चन्दन केसर आदि की मर्यादा करना (९) पुप्फविह—फूलो की व फूलमाला की मर्यादा करना (१०) आभरणविह—अलकार आभूषण की मर्यादा करना (११) धूपविह—धूप दीपादि सामग्री की मर्यादा करना (१२) पेजविहं—पीने की वस्तुओ की मर्यादा करना (१३) भक्खणविहं—घेवर आदि पक्वान्न की मर्यादा करना (१४) ओदणविहं—रधे हुए चावल थूली आदि की मर्यादा करना (१५) सूपविह—मूंग आदि दालो की मर्यादा करना (१६) विगयविह—घी, तेल, दूध, दही आदि की मर्यादा करना (१७) सागविहं—बथुआ आदि शाक की मर्यादा करना (१८) माहुरविहं—मधुर फलो की मर्यादा करना (१९) जीमणविह—वडा, पकौड़ी आदि जीमने के द्रव्यो की मर्यादा करना (२०) पाणियविह—पीने के पानी की मर्यादा करना (२१) मुखवासविह—लोग, इलायची आदि वस्तुओ की मर्यादा करना (२२) वाहणविह—यान, वाहन, हाथी, घोडे आदि की मर्यादा करना (२३) सयणविह—शय्या पलग आदि की मर्यादा करना (२४) पन्हिविह—जूते, मोजे आदि की मर्यादा करना (२५) सचित्तविह—सचित्त वस्तुओ की मर्यादा करना तथा (२६) दव्वविह—खाने-पीने के काम मे आने वाले सचित्त अचित्त पदार्थों की जो ऊपर के नियमो मे बचे हुए है उनकी मर्यादा करना, उपभोग—एक बार भोगने मे आने वाले स्नान जल आदि तथा परिभोग—बार-बार भोगने मे आने वाले वस्त्र आभूषण आदि पदार्थों की इस प्रकार श्रावक को मर्यादा बाधनी होती है और प्रतिक्रमण के समय इनके सम्बन्ध मे निम्न प्रकार से अतिचार की आलोचना करनी होती है—

(१) मर्यादा के उपरान्त सचित्त का आहार किया हो,

(२) सचित्त प्रतिबद्ध (सचित्त या अचित्त से सम्बन्धित करके) का आहार किया हो,

(३) अपक्व का आहार किया हो

(४) दुष्पक्व का आहार किया हो अथवा

(५) तुच्छ ओषधियो का भक्षण किया हो या ऐसे पदार्थों का उपयोग किया हो जिसमे थोडा खाया जाय व ज्यादा फेंकना पडे—तो मैं प्रायश्चित करना चाहता हूँ।

इसी व्रत मे भोजन के अलावा धधे के सम्बन्ध मे १५ कर्मादानो का भी उल्लेख किया गया है कि निम्न प्रकार के धधे जिनमे एक ओर तो हिंसा की मात्रा अधिक होती है और दूसरी ओर जो परिग्रह का भयकर गति से संचय बढाते हैं—श्रावक को नही करने चाहिए—

(१) इंगालकम्मे—कोयले बनाना आदि जिसमे अग्नि का महारम्भ करना पड़े।

(२) वणकम्मे—जगलात के ठेके लेना, लकडी कटवाना आदि।

(३) भाड़ीकम्मे—यान या वाहनो को किराये पर चलाने का धधा करना। इसमे वर्तमान यातायात का व्यापार आ जाता है।

(४) फोड़ीकम्मे—जमीन फोडने-खान खदान का काम करना।

(५) दन्तवाणिज्जे—दांत-हाथीदांत वगैरा का व्यापार करना।

(६) लक्खवाणिज्जे—अनेक जीवो की हिंसा से बनी हुई लाखादि धातुओ का व्यापार करना।

(७) रसवाणिज्जे—मादक रस—शराब आदि का व्यापार करना।

(८) केसवाणिज्जे—सुन्दर केश वाली स्त्रियो का अर्थात् दासियो का क्रय-विक्रय करना।

(९) विषवाणिज्जे—विभिन्न प्रकार विष-जहर का व्यापार करना।

(१०) जन्तपिल्लण कम्मे—यन्त्रो द्वारा पीलने का काम कराना, इसमे मिल कारखानो का समावेश हो जाता है।

(११) निल्लंछण कम्मे—घोडे, साड आदि को नम्मी करने का व्यापार

(१२) दवग्गिदावणया—जगल आदि मे आग लगाने का कार्य

(१३) सरहदतलावपरिपोषणया—सरोवर तालाव आदि को खाली कराकर सुखाना।

(१४) असईजनपोषणया—आजीविका के लिए हिंसक पशु व

दुराचारी का पोषण करना।

(१५) . . . .

यह एक समूचा चित्र मैंने रखा है कि श्रावक को भी परिग्रह को परिमित करने के लिए भगवान ने प्रतिबन्धित किया है—साधु तो पूर्णतया प्रतिबन्धित है ही। श्रावक पर भी जो बारिक मर्यादाएँ ऊपर बताई गई है, उनके महत्त्व पर विचार करना जरूरी है।

भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद की गहराई मे घुसकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वहाँ व्यक्ति और समाज दोनो को सन्तुलित करने का विचार दिया गया है। समाज मे विषमता, शोषण एव अन्याय की जननि ममत्व बुद्धि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और अध्यात्म को भी नीचे गिराती है। जिस समाजवादी सिद्धान्त की कल्पना की जाती है, वह भी क्या है—एक तरह से समाज मे सम्पत्ति, धनधान्य एव उपभोग परिभोग की वस्तुओ की समान रूप से मर्यादा बाँधने की ही तो बात है जो महावीर पहले ही से निर्देश कर गये है।

यह स्पष्ट है कि जब साधन सामग्री का नियमन किया जाय तो निश्चित है कि उसका काम हाथो मे सग्रह नही होगा बल्कि वही सम्पत्ति और सामग्री अधिकतर हाथो मे बिखर जायगी। जीवन निर्वाह के लिए शोषण की आवश्यकता नही होती है, वह तो होती है सग्रह के लिए। इसलिए सग्रह ही समाज मे सारी बुराइयाँ पैदा करता है—एक ओर तो ऊँचे-ऊँचे बंगलो का वैभव और दूसरी ओर जीर्णशीर्ण झोपडी की दरिद्रता है यह प्राय सग्रह और विषमता की उपज है। इस विषमता से सबसे बडी जो हानि होती है वह है नैतिक और आध्यात्मिक हानि। वे व्यक्ति जो विषम वातावरण मे रहते है, अधिकतया स्वभावतः यानी वे कुटिल स्वभावी हो जाते है और वे व्यक्ति जो [illegible] अवस्था मे [illegible] रहते है, वे [illegible] और [illegible] के पीछे [illegible] है [illegible] के [illegible] [illegible]। [illegible] है [illegible], पर इस विषमता का [illegible] है [illegible]।

जहाँ हम व्यक्ति का चरित्र ऊँचा उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान् व संयमशील बनाना चाहते हैं, वहाँ इस व्यवस्था मे वह सभी प्रकार से अनैतिक और असयमी बनने के रास्ते पर दौडने लगता है तब भगवान महावीर की गृहस्थो के लिए नियोजित अणुव्रत व्यवस्था की उपयुक्तता एव सत्यता और अधिक स्पष्टता से निखर उठती है। महावीर ने मूल रोग ममत्व को पकडा और यदि ममत्व को इस प्रकार मर्यादित कर दिया जाय व इसे निरन्तर घटाते रहने का क्रम बनाया जाय तो निश्चित रूप से समाज मे एक कुटुम्ब का सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र मे निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसलिए सम्पत्ति पर स्वामित्व घटे और हटे, तभी शुद्ध मानो में जाकर ममत्व बुद्धि का सफाया हो सकता है। साधु जीवन एक तरह उस आदर्श का चित्र है जहाँ किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर उसका किसी भी रूप मे स्वामित्व नहीं होता और इसीलिए उसके लिए किसी भी पदार्थ पर ममत्व रखना वर्ज्य है बल्कि स्वय ही स्वामित्व के अभाव मे ममत्व बुद्धि के आने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। यह तो दुनिया मे चारो ओर देखा जाता है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व होने से सैकडो प्रकार से कलह एव झगडो की उत्पत्ति होती रहती है। सम्पत्ति के नाम पर भाइयो का वैमनस्य देखा जाता है, भागीदारो से कलह पैदा होते है और पडोसियो से झगड़े हाते रहते हैं। कभी-कभी तो एक-एक इच भूमि के लिए निकटस्थो के सर फूटते देखे जाते है। सारा समाज एक कुटुम्ब क्या बने, उसका एक छोटा-सा घटक, आज का कुटुम्ब भी इस व्यवस्था मे सयुक्त और सशान्ति नही रह पाता। इस सारी विषमता और कलुषितता से त्राण पाने का एवं समाज सुव्यवस्था के साथ आत्मा की उन्नति करने का अबाध मार्ग है। भगवान महावीर का अपरिग्रहवाद जिसकी ओर आप लोगो का ध्यान जाये और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे ससार मे फैलाएँ। यह आज युग की माँग हो गई है।

"अहिंसा परमोधर्म" का पालन भी बिना अपरिग्रह के स्वस्थ रीति

से करना सम्भव नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने भी जब दीक्षा ली तो उन्होंने सारे वस्त्राभरण त्याग कर अपने शरीर पर एक मात्र वस्त्र ही रखा था, उसे भी बाद में त्याग दिया। क्या भगवान महावीर आपसे कम सुकोमल थे? अरे, वे तो राज्य के महान् वैभव में अपार सुख-सुविधाओं के बीच रहने वाले राजकुमार थे, फिर भी कोई ममत्व उन्हें बांध नहीं सका और आप कहते हैं कि 'हमारा निभाव सम्पत्ति के बिना कैसे हो?'' पर मैं पूछता हूं कि क्या बहिनें मोती के हार पहने बिना जीवित नहीं रह सकतीं, जो सैकड़ों घोंघों को मारकर प्राप्त किये जाते हैं? रेशमी और सुन्दर वस्त्रों की जगह यदि खादी पहनी जाय तो क्या शरीर क्षय हो जायगा? बड़े-बड़े बंगलों की बजाय झोंपड़ी का आनन्द लिया जाय तो वह निराला होगा। आप एक ओर बड़ी बड़ी तपस्याएँ करते हैं और दूसरी ओर परिग्रह के पीछे पड़े रहते हैं। क्या यह उस तपस्या को लज्जित करना नहीं है? निष्परिग्रही महावीर के अनुयायी गरीबों का खून चूसते रहें। यह स्वयं महावीर को लज्जित करने जैसा कार्य है।

मैं आपको गम्भीरता से कहना चाहता हूँ कि आप अधिक न बन सकें तो कम-से-कम यह प्रतिज्ञा तो आज के दिन अवश्य करें कि आप किसी पर मुकद्दमा नहीं करेंगे और ओछी सम्पत्ति के कारण अपने भाइयों के बीच में कलह का बीज कतई नहीं बोएंगे। मैं आपसे पूछूं, राम का नाम क्यों प्रसिद्ध है? क्या वे दशरथ के पुत्र थे इसलिए? नहीं, उनके बड़ी बात की उन्होंने अपने जीवन में कि वे अपने भाई के लिए सारा राज्य त्याग कर वन में चले गये। महावीर और राम जैसे महापुरुषों की जयन्ती समारोह मनाना तभी सफल माना जा सकता है, जब इन महापुरुषों के जीवन के आदर्शों को अपने जीवन में उतारें वरना ये समारोह वगैरा तमाशा एवं नाटक रूप माना जायगा और इससे अपनी आत्मा में कोई जागरण पैदा नहीं होगी।

आज के साम्यवाद समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि केवल अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन में उतारें तो वे अपने जीवन में तो आनन्द का अनुभव करेंगे ही—साथ ही सारा दुनिया में

जहाँ हम व्यक्ति का चरित्र ऊँचा उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान् व संयमशील बनाना चाहते हैं, वहाँ इस व्यवस्था मे वह सभी प्रकार से अनैतिक और असयमी बनने के रास्ते पर दौडने लगता है तब भगवान महावीर की गृहस्थो के लिए नियोजित अणुव्रत व्यवस्था की उपयुक्तता एव सत्यता और अधिक स्पष्टता से निखर उठती है। महावीर ने मूल रोग ममत्व को पकडा और यदि ममत्व को इस प्रकार मर्यादित कर दिया जाय व इसे निरन्तर घटाते रहने का क्रम बनाया जाय तो निश्चित रूप से समाज मे एक कुटुम्ब का सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र मे निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसलिए सम्पत्ति पर स्वामित्व घटे और हटे, तभी शुद्ध मानो में जाकर ममत्व बुद्धि का सफाया हो सकता है। साधु जीवन एक तरह उस आदर्श का चित्र है जहाँ किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर उसका किसी भी रूप मे स्वामित्व नहीं होता और इसीलिए उसके लिए किसी भी पदार्थ पर ममत्व रखना वर्ज्य है बल्कि स्वय ही स्वामित्व के अभाव मे ममत्व बुद्धि के आने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। यह तो दुनिया मे चारो ओर देखा जाता है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व होने से सैकडो प्रकार से कलह एव झगडो की उत्पत्ति होती रहती है। सम्पत्ति के नाम पर भाइयो का वैमनस्य देखा जाता है, भागीदारो से कलह पैदा होते है और पडोसियो से झगडे होते रहते हैं। कभी-कभी तो एक-एक इच भूमि के लिए निकटस्थो के सर फूटते देखे जाते है। सारा समाज एक कुटुम्ब क्या बने, उसका एक छोटा-सा घटक, आज का कुटुम्ब भी इस व्यवस्था मे सयुक्त और सशान्ति नहीं रह पाता। इस सारी विषमता और कलुषितता से त्राण पाने का एवं समाज सुव्यवस्था के साथ आत्मा की उन्नति करने का अबाध मार्ग है। भगवान महावीर का अपरिग्रहवाद जिसकी ओर आप लोगो का ध्यान जाये और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे ससार मे फैलाएँ। यह आज युग की माँग हो गई है।

"अहिंसा परमोधर्म" का पालन भी बिना अपरिग्रह के स्वस्थ रीति

से करना सभव नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने भी जब दीक्षा ली तो उन्होने सारे वस्त्राभरण त्याग कर अपने शरीर पर एक मात्र वस्त्र ही रखा था, उसे भी बाद मे त्याग दिया। क्या भगवान महावीर आपसे कम सुकोमल थे? अरे, वे तो राज्य के महान् वैभव मे अपार सुख-सुविधाओ के बीच रहने वाले राजकुमार थे, फिर भी कोई ममत्व उन्हे बाँध नही सका और आप कहते हैं कि 'हमारा निभाव सम्पत्ति के बिना कैसे हो ?'' पर मैं पूछता हूँ कि क्या बहिने मोती के हार पहने बिना जीवित नही रह सकती, जो सैकडो घोघो को मारकर प्राप्त किये जाते है ? रेशमी और सुन्दर वस्त्रो की जगह यदि खादी पहनी जाय तो क्या शरीर क्षय हो जायगा ? बडे-बडे बंगलो की बजाय झोपडी का आनन्द लिया जाय तो वह निराला होगा। आप एक ओर बडी बडी तपस्याएँ करते हैं और दूसरी ओर परिग्रह के पीछे पडे रहते हैं। क्या यह उस तपस्या को लज्जित करना नही है ? निष्परिग्रही महावीर के अनुयायी गरीबो का खून चूसते रहे। यह स्वय महावीर को लज्जित करने जैसा कार्य है।

मैं आपको गम्भीरता से कहना चाहता हूँ कि आप अधिक न बन सकें तो कम-से-कम यह प्रतिज्ञा तो आज के दिन अवश्य करें कि आप किसी पर मुकद्दमा नही करेंगे और ओछी सम्पत्ति के कारण अपने भाइयो के बीच मे कलह का बीज कतई नही बोएँगे। मैं आपसे पूछूं, राम का नाम क्यो प्रसिद्ध है ? क्या वे दशरथ के पुत्र थे इसलिए ? नही, उससे बड़ी बात की उन्होने अपने जीवन मे कि वे अपने भाई के लिए सारा राज्य त्याग कर वन मे चले गये। महावीर और राम जैसे महापुरुषो की जयन्ती समारोह मनाना तभी सफल माना जा सकता है, जब उन महापुरुषो के जीवन के आदर्शों को अपने जीवन मे उतारें वरना ये समारोह वगैरा मनाना सब नाटक रूप माना जायगा और इनसे अपनी आत्मा मे कोई जागरण पैदा नही होगी।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि चेत् अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन मे उतारें तो वे अपने जीवन मे तो आनन्द का अनुभव करेंगे ही—साथ ही सारा दुनिया में

एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेंगे, क्योकि अपरिग्रह का सिद्धान्त साम्यवाद व समाजमाद के लक्ष्यो की तो पूर्ति कर देगा किन्तु उनकी बुराइयो को भी चरित्र एव सयम की आधारशिला पर नागरिको को खड़ा करके पनपने नही देगा।

इसलिए मे आपसे कहता हूँ कि आप अपरिग्रही बनिये और महावीर के गौरवान्वित नाम के गौरव को और अधिक बढाइये। यह बाहर का वैभव बाहर और अन्दर दोनो को डुबाने वाला है अत. अन्दर के वैभव को बढाइये और उसको समृद्ध करिये। भगवान महावीर ने भी अपने पहले फैले हुए असत्य, हिंसा के प्रवाह, एकान्ती विचार एव परिग्रही ममत्व के अँधेरे को अपने ज्ञान के आलोक से विनष्ट किया, उसी रोशनी की मसाल को आप फिर से ऊपर उठाइये और आप देखेंगे कि आपकी उन्नति का निष्कटक पथ स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

लोदी रोड, दिल्ली दि० १५-४-५१

शास्त्रों के चार अनुयोग

मानव का उद्देश्य अन्धकार से प्रकाश की ओर बढते जाना है और चरम विकास के रूप मे एक दिन स्वय के जीवन को परम प्रकाशमय बना लेना है। जीवन के अन्धकार का आकाशदीप या प्रकाशस्तभ निर्मल ज्ञान है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान ही की दृष्टि से अपने विकास पथ का यथार्थतया अवलोकन किया जा सकता है। जिन महापुरुषो ने अपने जीवन मे उच्चतम विकास प्राप्त किया, उन्होने अपने ज्ञान और अनुभव के सफल सयोग से उत्थान की जो ठोस बातें बताई, वे ही आज हमारे सामने शास्त्रोक्त सिद्धान्तो के रूप में उपस्थित है। शास्त्रो की पूर्ण प्रामाणिकता, वास्तविकता एव वैज्ञानिकता मे अटल व अटूट विश्वास करने का यही कारण है कि इनके निर्माताओ का ज्ञान व अनुभव उतना ही विशाल, सजग एव सुदृढ था। इसलिए हजारो वर्ष बाद भी वह शास्त्रोक्त ज्ञान हमे हमारे घनान्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करने मे ज्योतिर्मय प्रेरणा प्रदान करता है।

तो यहाँ मैं आपके सामने आपकी प्रदर्शित इच्छा के अनुसार यह बताने जा रहा हूँ कि जैन शास्त्रों मे चरम विकास की क्या स्थिति है, उसकी पूर्व भूमिकाएं क्या है तथा किन-किन सीढियो से शास्त्रोक्त ज्ञान विकास की मजिल की ओर आगे बढाता है?

प्रधानतया धार्मिक सिद्धान्तो का लक्ष्य आत्मविकास करना होता है इसलिए ज्ञान, वैराग्य, तप आदि वैयक्तिक साधना के साधनो का इनमे सविस्तार वर्णन भी होता है। इन सिद्धान्तो की कसौटी भी यही है कि कौन सिद्धान्त विकास के लिए कितनी बलवती प्रेरणा दे सकता है और पतन के समय उसे जागृत कर सत्य मार्ग पर ले आता है? इस दृष्टि से कहना चाहूँगा कि जैन सिद्धान्त व्यक्ति के हृदयपटल की सूक्ष्म गहराइयो मे प्रवेश करते हैं और उसे अपने पतन से सावधान करते हुए उत्थान की ओर अग्रसर

बनाते हैं। इन विकासोन्मुखी परिस्थितियों का जैन शास्त्रो मे बड़ी ही सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है। यहाँ मैं आप लोगो को थोडा उपालभ दूं कि आप ऊँचा-से-ऊँचा व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, बी० ए०, एम० ए० या डॉक्टर आदि बन जाते हैं किन्तु आत्मविकासक ज्ञान सीखने की ओर खास ध्यान नही देते। कोरे अर्जन करने की कला सीखते हैं, पर अन्धकार से प्रकाश की ओर बढने की कला से अगर बिलकुल अनभिज्ञ रह गये तो आप ही सोचिये कि जीवन को सफल बनाने के लिए केवल अन्धकार आपकी कैसी सहायता कर सकेगा। आज आप लोगो का कर्त्तव्य है कि जैन सिद्धान्तो की सूक्ष्मता को स्वयं समझें, मनन करे और उन्हे नवीन रूप मे जगत् के सामने रखें। सिद्धान्तो के इस तरह के अत्यल्प प्रचार को देखकर मुझे दुःख होता है कि आप जैन विद्वानो के समक्ष भी जैन सिद्धान्तों का प्रारभिक रूप मुझे बताना पडे। मैं आशा करूँ कि वर्तमान अशान्त अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे जैन सिद्धान्तो का वास्तविक मूल्याकन कर उन्हे ठीक रूप मे प्रचारित करने का लक्ष्य बनाया जायगा। मेरे सामने काफी अजैन विद्वान् भी बैठे हुए हैं और मेरा उनसे भी यही कथन है कि अब साम्प्रदायिकता का वह युग नही, अब तो शुद्ध सैद्धान्तिक भूमि पर विभिन्न दर्शनो के विभिन्न सिद्धान्तो को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और उनमे से जिन सिद्धान्तो द्वारा व्यापक सर्वहित सम्पादित करना सभव दीख पडे, उन्हे प्रसारित व प्रचारित करने मे अपना योग देना चाहिए। 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'—जैसी जहरीली बातो का तो आज कोई भी सभ्य आदमी चर्चा तक नही कर सकता। सत्य चाहे जहाँ मिले, जिज्ञासु वहाँ चला ही जायगा। अपना ही सत्य और दूसरो का सब असत्य—ऐसी मनोवृत्ति को फैला कर अपने अनुयायियो को विस्तृत ज्ञान सम्पादन से रोकना भी मैं तो अपनी ही कमजोरी का एक कारण समझता हूँ।

हाँ तो जैन शास्त्रो का विषय परिचय कराने के लिए इन्हे चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१. प्रथम—प्रथमानुयोग या धर्मकथानुयोग

२. द्वितीय—गणितानुयोग

३ तृतीय—चरणकरणानुयोग

४. चतुर्थ—द्रव्यानुयोग

अनुयोग का अर्थ है व्याख्यान या विवेचन। जैन समाज का कोई भी सम्प्रदाय हो, उनके समस्त ग्रन्थो मे इन्हीं विषय प्रणालियो से विवेचन किया गया है, क्योकि सारे साम्प्रदायिक भेद तो भगवान् महावीर के भी अनेक वर्षो के बाद उत्पन्न हुए हैं।

प्रथमानुयोग का अर्थ कथा-साहित्य के व्याख्यान से है। जैन-ग्रन्थो मे तात्त्विक एव विकासकारी बातो को समझाने के लिए स्थान-स्थान पर कथाओ का उल्लेख किया गया है। कथाओ की प्रणाली ही सिद्धान्तों को इतना लोकप्रिय बना सकी है, क्योकि इसके द्वारा उक्त सिद्धान्त की जानकारी अत्यन्त ज्ञान व समझ वाले को भी आसानी से कराई जा सकती है। इसलिए जैन-शास्त्रो से कथाओ द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि गूढ तत्वो का भी ज्ञान बडी सरलतापूर्वक हो जाता है। दूसरे कथाओ की प्रणाली मे एक तरह की सरसता व प्रेरणाशीलता भी होती है। महापुरुषो की जीवगाथाओ से जीवन मे सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने की एक बलवती प्रेरणा मिलती है। उनके जीवन के उत्थान-पतन के संघर्ष और प्रगति की निष्ठा कथाओ के रूप मे श्रोता के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव छोडती है। इस तरह हमारे शास्त्रीय दृष्टान्त पतन मे जागरण व उत्थान मे विचारणा प्रदान करते है।

जैन धर्म का कथा-साहित्य, जो कि वास्तव मे साहित्यिक क्षेत्र मे अभी तक पूर्ण रूप से प्रकाश मे नही लाया गया है, विश्व के कथा-साहित्य में अनुपम है। जैन-कथानक की यह सबसे बडी विशेषता रही है कि इनमे यथार्थ व आदर्श का मिश्रित रूप का इस सुन्दरता से चित्रण किया गया है कि पाठक को पतन से जागृत करते हुए इसमे उसे विकास का प्रेरणा-स्रोत मिलता है। कथानक कही भी असगत व अस्वाभाविक नही होता। अधिकतर धार्मिक कथानको मे काफी अत्युक्तियाँ व काल्पनिक वर्णन पाया

जाता है, लेकिन वह दोष जैन-कथानकों मे नही है। दूसरे, इन कथानकों मे स्वाभाविक रूप से मर्यादा का भी निर्वाह किया गया है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दूं कि तुलसीकृत रामायण मे सीताहरण के समय राम को स्वर्ण-मृग मे लुब्ध बन कर भागने का उल्लेख है, जो वास्तव मे राम की मर्यादा को भग करने जैसी वस्तुस्थिति है। राम जैसा महापुरुष स्वर्ण-मृग की सुन्दरता मे लुब्ध बन कर या अपनी पत्नी के कथन से वास्तविकता को भूलकर एक निर्दोष प्राणी को मारने दौडे, यह वर्णन स्वाभाविक नही कहा जा सकता। जैन रामायण मे सीताहरण के उल्लेख मे यह वर्णन है कि उस समय लक्ष्मण खरदूषण राक्षसो से युद्ध करने गये हुए थे और वहाँ एक राक्षस ने लक्ष्मण की आवाज मे जोरो से 'राम-राम' पुकारा तो उस करुण ध्वनि को सुनकर सीता ने राम को जाने के लिए आग्रह किया कि अवश्य ही लक्ष्मण पर कोई विपत्ति आ गई है। यह वर्णन महापुरुषो की अहिंसा व उच्चवृत्ति के अनुकूल पूर्णतया स्वाभाविक कहलायगा। निर्दोष पशुओ की महापुरुष द्वारा शिकार करने के तथ्य को प्रचारित कर क्या आज भी प्राणी अहित का उत्तेजना नही मिलती? कई बार राजपूतो के सामने मैं शिकार का त्याग करने की बात कहता हूँ तो वे कह उठते है कि महाराज, शिकार तो क्षत्रियो का धर्म है, राम ने भी तो किया था। आप सोचते होगे कि मैं एक ऐतिहासिक कथा को असत्य सिद्ध करने की कोशिश कर रहा हूँ, पर धर्म कथा साहित्य ही वह है, जिससे सत्य व सर्व-कल्याण का ही बोध हो। राजा दशरथ के पुत्र हुए, सीताहरण हुआ, वे न्यायी व मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, यह सब ठीक, किन्तु मैं आपको बताता हूँ कि मान्यता मे विभेद कहाँ और कैसे पडता है? राम सीता की एक-सी ही मूर्तियो को गुजरात, दक्षिण, राजस्थान व बगाल मे अपने-अपने प्रचलित वेश के अनुसार ही अलग-अलग पोशाकें पहनाई जाती है, किन्तु वे असल पोशाकें तो नही क्योकि असल का ज्ञान तो उस समय की देशकाल की परिस्थिति के अनुसार ही होगा। बाकी लोगो ने अपनी कल्पना के मुताबिक पोशाको की रचना की, उसी प्रकार शिकार या ऐसे मर्यादा निर्वाह के अन्य विषयो के सम्बन्ध

मे भी विवेकपूर्वक समझना चाहिए कि ये महापुरुष 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' सिद्धान्त के महान् प्रचारक थे, वे कैसे निर्दोष प्राणियो के क्रूर हनन का विचार तक भी कर सकते हैं ? अस्तु मेरा तात्पर्य यह है कि जैन कथानको मे स्वाभाविकता व सैद्धान्तिकता का पूरा-पूरा निर्वाह किया गया है ।

जैन कथा-साहित्य की एक-एक कथा जीवन विकास का ज्वलन्त रत्न है । गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अगारे रख दिये जाने पर भी जिस शान्ति व रखने वाले सोमिल ब्राह्मण के प्रति सद्भावना का उल्लेख है, वह निश्चय पाठक के हृदय में भी महान् क्षमा व सहनशीलता का भाव भरता है । हजार से ऊपर मनुष्यो को अपनी गदा से मौत के घाट उतारने वाला अर्जुन माली जब सुदर्शन की दिव्य आत्म-शक्ति के समक्ष अपनी आत्म-चेतना को सजग बना लेता है तो वह दृश्य किसे अपने भारी-से-भारी पतन से भी उठने की प्रेरणा न देगा ? चेड़ा महाराज व्रतधारी होते हुए भी अन्याय का प्रतिकार करने के लिए महान् सग्राम मे जूझ पडते हैं, यह कथानक कायरता को कहाँ स्थान देता है । इसी प्रकार आनन्द, आदि सद्गृहस्थो की व्यवहारिक आदर्शों भरी कथाएँ जीवन मे प्रगतिकारी क्रान्ति को जन्म देती है । सक्षेप में यही कहना है कि जैन कथाएँ जैन-संस्कृति को अपने यथार्थ रूप में पर अत्यन्त सरलतापूर्वक प्रदर्शित करती हैं ।

दूसरा अनुयोग है गणितानुयोग, जिसमे स्वर्ग, नरक, द्वीप, समुद्र आदि से सयुक्त चौदह राजू के विशाल लोक का विवरण है । गणित के इनके आंकडो को समझने के लिए आज हमारे में वह जानकारी न रही हो व माप-तोल के भी पैमाने बदल गये हो वह दूसरी बात है, किन्तु जिस बारीक व विस्तार से सारे खगोल व भूगोल का आंकडोपूर्वक वर्णन किया गया है, वह आश्चर्य का विषय है । गणितानुयोग की कई बातें तो आज भी वैज्ञानिक जगत् मे प्रकाश मे आई हैं और जब तक अन्य बातें असत्य सिद्ध न की जा सके, तब तक उनमे अविश्वास जाहिर करना अपने ही ज्ञान का अभाव साबित करना है । जैसे हमारे यहाँ उल्लेख है कि शब्द तीव्र गति वाले होते है । ध्वनि जो एक ने उच्चरित की है, वह सारे लोक मे फैलकर प्रतिध्वनित

होती हुई पुन उसी के कानो मे गिरती है। वैसे इस बात की हँसी उडाई जा सकती थी, किन्तु वर्तमान विज्ञान की इस सम्बन्ध मे सफल खोजो के बाद यह स्थिति नही रही। वैज्ञानिको ने ध्वनि को तीव्र गति वाली साबित कर दी है, बल्कि रेडियो द्वारा उसे नियन्त्रित रूप से सर्वत्र पहुँचाया भी जा रहा है। इसी तरह अन्य कई तथ्य हैं, जिन्हे "जैन सिद्धातो मे वैज्ञानिक तत्त्व" शीर्षक के नीचे ही विस्तार से समझाया जा सकता है। इनमे अणु-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि कई तत्त्व हैं।

जैन जिसे चौदह 'राजु' लोक कहते है, वैष्णव उसे चौदह लोक और मुसलमान चौदह तलब बताते हैं। इसी प्रकार अन्य कई बाते हैं इस गणितानुयोग की—जो दूसरो की मान्यताओ से भी मेल खाती हैं। आज स्वर्ग व नरक के लम्बे वर्णनो से नवयुवको मे अश्रद्धा उत्पन्न होती है, किन्तु वे प्रकृति के व्यवस्थाबद्ध क्रम को नही समझना चाहते। आपके लौकिक व्यवहार मे भी तो कुछ ही सैकडो मे जो किसी मनुष्य की हत्या कर डालता है, उसे फल कितना लम्बा भुगताया जाता है—आजीवन कारावास। अगर यहा भी यह व्यवस्था है तो प्रकृति के कार्यों मे कोई इसके लिये व्यवस्था नही। दूसरे स्वर्ग, नरक का वर्णन उनके वर्णन मात्र की दृष्टि से प्रमुख नही, बल्कि जिस तरह आज के न्याय-दण्ड का एक लक्ष्य उदाहरणात्मक होता है उसी तरह इनके वर्णनो से आत्मा यह सोचने का प्रयास करे कि हत्या करने पर यह सजा होगी और धोखादेही के मामले मे अमुक दफा लगेगी तथा उसके बाद अपने आपको वह दुष्कर्मों से बचा सके। इसके विपरीत स्वर्ग का वर्णन उसे सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता है। जैसे वायु के उतार-चढाव व दबाव को मापने का पैमाना दूसरा होता है और सोना-चादी तोलने का दूसरा—एक ही काँटे से दोनो का माप-तौल नही लिया जा सकता, उसी तरह विज्ञान की अभी भी अपूर्ण स्थिति मे इन तथ्यो मे अविश्वास पैदा कर लेना उचित नही कहला सकता। यह सुनिश्चित है कि यह सारी गणित भी गणित के लिए नही बनी है, बल्कि उसका मूल उद्देश्य भी जीवन-विकास मे सहयोग देना ही है। अत इस गणितानुयोग का भी उसी

दृष्टि से ही मूल्याकन करना चाहिए।

तीसरे चरणकरणानुयोग मे जैनागमो मे विस्तार पूर्वक चरित्र-चित्रण का व्याख्यान किया गया है। ज्ञान की महत्ता चारित्र्य के साथ ही कही गई है। बिना चारित्र्य के ज्ञानी की उपमा शास्त्रो मे चन्दन के भार को वहन करता हुआ भी गधा जैसे उसकी सुगन्ध को नही समझता, वह तो उसे भार की तरह ही उठाये फिरता है, उसी तरह आचरणहीन ज्ञान भी भार रूप ही है। ज्ञान और चारित्र्य के सगम से ही मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है। ज्ञान के बिना चारित्र्य अन्धा है और चारित्र्य के बिना ज्ञान लँगडा, अत अन्धे और लँगडे के सहयोग करने से ही दोनो का त्राण हो सकता है। आचरणहीन ज्ञान की तरह ही शास्त्रो मे ज्ञानहीन आचरण को भी महत्त्व नही दिया गया हैं। बिना सम्यक् ज्ञान के की जाने वाली कठोर-तम क्रियाएँ भी चारित्रिक विकास का कारण नही बन सकती। लोभी व्यक्ति भी अपने धनार्जन के लिए साधु की तरह शीत, ऊष्ण वर्षा के कष्ट सह सकता है, पर उनका कोई महत्त्व नही। जैसे बिना सुवास के पुष्प का मोल ही क्या? उसी तरह आत्म-भावना बिना तपादिक की कियाएँ आत्म-विकास मे सहायक नही हो सकती। दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि तपस्यादि आचार का पालन न तो इस लोक मे प्रशसा प्राप्त करने के हेतु करे, न परलोक के सुखो की प्राप्ति के लिए। किन्तु केवल अपने आत्म विकास के लिए पूर्ण निष्काम भाव से ही करे।

जैन शास्त्रो मे ऐसी किसी भी क्रिया का विधान चारित्र्य की श्रेणी मे नही किया गया है, जिससे किसी भी रूप मे मानसिक, वाचिक या कायिक हिसा होती हो। यज्ञ, द्रव्य पूजा आदि का तो भगवान् महावीर ने खण्डन किया है। भाव-यज्ञ और भाव-पूजा का ही विधान सर्वत्र पाया जाता है। आत्म-विकास हित गति करने की विभिन्न श्रेणियाँ हमारे यहाँ कायम की गई हैं और तदनुसार ही चारित्र्य पालन की श्रेणियो का ही विवेचन किया गया है। सारे सासारिक व्यामोहो को छोडकर पूर्ण रूप से स्वपर कल्याणहित प्रगमन करने वाले पथिको के लिए साधु चारित्र्य या अणगार

धर्म का वर्णन है, किन्तु उन लोगो के लिए जो सासारिक क्षेत्र मे रहते और भोगते हुए भी अपने जीवन को मर्यादाशील बनाना चाहते है। श्रावक-चारित्र्य या आगार-धर्म का वर्णन किया गया है।

श्रमण या साधु चारित्र्य मे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन व परिग्रह का मन, वचन व काया से सर्वथा परित्याग किया जाता है, वल्कि इन कार्यों के करवाने व अनुमोदन तक करने का भी निषेध किया गया है। ये इनके पाच महाव्रत कहलाते हैं। इसी तरह श्रावक-गृहस्थ के लिये अपने नैतिक जीवन को सन्तुलित बनाये रखने के लिए बारह व्रतो का विधान है जिनमे पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत कहलाते है। इनका अति सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

५ अणुव्रत—१ निरपराध जीवो को उनके प्राणनाश करने के सकल्प से न मारना व न त्रास देना। अपने आश्रित मनुष्य या पशु को भूखा रखना या उनकी शक्ति से अधिक काम लेना भी हिंसा मे ही सम्मिलित किया गया है। परन्तु अपराधी व सूक्ष्म जीवो का त्याग गृहस्थ को अशक्य होता है।

२ सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय या दूसरो को कष्ट पहुँचावे इस प्रकार भाषण नही करना। झूठी गवाह, झूठे दस्तावेज या अन्य रूप मे मोटा झूठ बोलने का त्याग।

३. राजा या कानून दड दे या लोक निन्दा हो ऐसी चोरी न करना तथा विना आज्ञा किसी भी चीज़ को उठाने का त्याग।

४. स्वस्त्री के सिवाय अन्य स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्धों का त्याग अर्थात् मर्यादित ब्रह्मचर्य का विधान।

५. गृहस्थी की आवश्यकतानुसार धन, धान्य, सोना, चाँदी, भूमि आदि व व्यापार आदि से प्राप्त लाभ तक को भी सीमित एव मर्यादित करना।

पांच अणुव्रतो की रक्षा के लिए ही शिक्षा व गुणव्रतो का विधान

है। साधु व श्रावक के ये पाँचो व्रत एक ही है, सिर्फ त्याग की न्यूनाधिकता के कारण 'महा' व 'अणु' विशेषण लगाये गये हैं। इन बारह व्रतो का स्वरूप इस तरह बनाया गया है कि इनका पालन समुचित रूप से एक राष्ट्र-पति भी कर सकता है तथा एक अति साधारण गृहस्थ भी। चेडा महाराजा ने भयकर सग्राम करते हुए भी अपने बारह व्रतो को पूरी तरह निभाया था। आज के नैतिक विश्रृंखलता के युग मे इन व्रतो के सम्यक् पालन से न सिर्फ योग्य एव नीति सम्पन्न नागरिको का ही निर्माण किया जा सकता है, बल्कि समाज की विभिन्न जटिल समस्याएँ भी बड़ी आसानी से इनके द्वारा सुलझाई जा सकती है।

कई लोग जैनो द्वारा वर्णित चारित्र्य धर्म को सिर्फ निवृत्ति व प्रवृत्ति-का ही रूप बताते हैं किन्तु जैन धर्म निवृत्ति व प्रवृत्ति-उभय रूपक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का कोई अर्थ ही नही होता। असत् से निवृत्ति करने के लिए सत् मे प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी। जैनागमो मे जहाँ बुराई के त्याग का वर्णन है, वही अच्छाई के आचरण का भी। 'कु' को 'सु' में बदल देना ही सच्चा आचरण है। जैन दर्शन मे सहजिक योग सुमति का वर्णन है, जिसका अर्थ ही है कि सम्यक् प्रकार से गति करना।

इस तरह चरणकरणानुयोग मे दान, शील, तप, भावना रूप चारित्र्य का भी सागोपाग विस्तृत वर्णन किया गया है। वर्णित आचरण के अनुसार जो अपने जीवन को ढाल लेता है, उस आत्मा का चरम विकास सुनिश्चित बताया गया है। इस सारे आचरण का मूल हमारे यहाँ विनय को कहा गया है—"विणयो धम्मस्स मूलं"। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए क्षमा, सन्तोष, नम्रता, सरलता, सयम आदि दश भेद बताये हैं। तप मे भी आभ्यन्तर तप अर्थात् प्रायश्चित, विनय, ध्यान, सेवा, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय छः भेद तथा बाह्य-अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरा, रस-परित्याग, कायक्लेश व प्रतिसलीनता—छः भेद बताये गये हैं। इन सबके आचरण से आत्मा का सुव्यवस्थित विकास सम्पादित होता है।

अन्तिम चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है। द्रव्य का लक्षण है—"उत्पाद-

व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्''। जो उत्पन्न होने व नष्ट होने के बावजूद भी ध्रौव्य (स्थिर) है, वह द्रव्य है। द्रव्य छ. बताये गये हैं। (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय व (३) आकाशास्तिकाय—ये तीन द्रव्य अरूपी हैं तथा क्रमशः गति, स्थिति एव अवकाश प्राप्त कराने मे सहायक होते हैं। गति व स्थिति मे सहायक तत्त्वो के सम्बन्ध मे तो विज्ञान भी अब मानने लगा है। (४) काल द्रव्य-वस्तुतः कोई द्रव्य नही है किन्तु औपचारिक रूप से माना गया है। क्योकि भूतकाल बीत चुका, वर्तमान हमारे सामने है व भविष्य उत्पन्न होगा, अतः इसमे द्रव्य का लक्षण घटित नही होता। (५) जीव व (६) पुद्गल द्रव्य हैं।

जीव या आत्म द्रव्य का वर्णन जैन दर्शन मे अतिस्पष्ट एव असंदिग्ध रूप से किया गया है। जीव की पर्याय अवस्थाएँ बदलती रहती हैं अतः उसका पूर्व पर्याय की दृष्टि से विनाश होता है व नवीन पर्याय की दृष्टि से विनाश होता है व नवीन पर्याय की दृष्टि से नई उत्पत्ति, परन्तु इन पर्यायो के परिवर्तन के बावजूद भी अपने रूप मे आत्मा ध्रौव्य रूप मे रहता है। जैसे एक सोने के कडे को तुडवाकर हार बनवाया तो सोना कडे रूप पर्याय से नष्ट हुआ वह हार रूप पर्याय मे उत्पन्न, परन्तु स्वर्णत्व की दृष्टि से वह ध्रौव्य रहा। पर्यायो मे आकृति का रूपान्तर होता है, मूल स्वरूप मे तो एकता ही विद्यमान रहती है। दूसरे वेदान्त मान्यता की तरह हमारे यहाँ आत्मा एक नही मानी गई है, किन्तु प्रत्येक प्राणी मे स्वतत्र आत्मा है तथा स्वतत्र ही उसकी अपनी अनुभूतियाँ भी होती है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी अलग-अलग दु ख या सुख का अनुभव करता है।

इसके सिवाय आत्मा मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त शक्ति का अपार तेज रहा हुआ है, किन्तु यह तेज उसी तरह ढका हुआ है जिस प्रकार काले बादलो से ढक जाने पर सूर्य का ज्वलत प्रकाश भी छिप-सा जाता है। आत्मा की इन तेजमयी शक्तियो पर कर्म मैल की परतें चढी हुई हैं। ये कर्म मुख्य रूप से आठ माने गये है। ये कर्म नित्य नहीं हैं। आत्मा जैसे कार्य करता है, तदनुरूप ही कर्मों का बन्ध होता है।

पूर्व कर्मो की निर्जरा व नये कर्मों के बन्ध होने का यह क्रम इस सृष्टि मे चलता ही रहता है, जब तक सारे कर्म खपाकर आगे के बन्ध को रोककर आत्मा का सर्वोच्च उत्थान प्राप्त नही कर लिया जाता। कर्मों के विभिन्न फलाफल के अनुसार ही जीव विभिन्न गतियो मे भ्रमण करता रहता है। जैन दर्शन मे पृथ्वी, पानी, वनस्पति, हवा व आग मे भी एकेन्द्रिय जीव माने गये हैं, जिन्हे केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। ये प्राणी भी उच्चतम विकास करते हुए मनुष्य, देव आदि योनियो तक पहुँच सकते है। मनुष्य और देव भी अधम कार्य करता हुआ एकेन्द्रियो के रूप मे अपने आपको पहुँचा सकता है। यहाँ तो अपने कर्म के अनुसार गति की ऊँची नीची दिशा का निर्माण होना माना गया है। सर्वोच्च विकास मे नीचा आत्मा भी शुद्ध बुद्ध रूप हो सकता है, जिसे सिद्ध या परमात्मा करते हैं। हमारे यहाँ ईश्वर का नियन्ता रूप नही माना गया है।

ससार का यह गतिचक्र जीव व पुद्गल के सयोग से चलता है, जिसे समझने के लिए जैनागमो मे 'नव तत्त्व' का उल्लेख किया गया है। पुद्गल वर्ण, गध, रस व स्पर्श युक्त है, जो जीव के साथ सम्बन्धित होकर ससार की बहुरूपा माया की रचना करता है।

इसी द्रव्यानुयोग मे छः लेश्याओ अर्थात् प्राणी के विभिन्न भावो की स्थिति का भी दिग्दर्शन कराया गया है तथा इसी तरह चौदह गुण स्थानों का भी वर्णन है, जो आत्मा विकास की श्रेणियो के रूप मे दिखाये गये है।

जैनधर्म मे किसी भी पदार्थ या तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए नयवाद व स्याद्वाद की दृष्टि से देखना होता है, क्योकि इनकी सहायता के बिना उसके विभिन्न पहलू नजर नही आवेंगे तथा प्राप्त ज्ञान सिर्फ एकान्तिक दृष्टिकोण वाला होगा।

जैन दर्शन ज्ञान का एक विशाल भडार है, उसकी मैं आपको सिर्फ एक झलक मात्र दिखा सका हूँ और इसके बाद मैं आशा करूं कि आप विद्वान् लोग इसके गहन अध्ययन और तत्त्व चिन्तन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

सब्जी मण्डी, दिल्ली

ता० १-२-५१

जैन दर्शन का तत्त्ववाद

"सुज्ञानी जीवा भज ले रे जिन इकीसवां ..."

यह २१ वे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ की प्रार्थना है। इसमें परमात्मा के भजन पर जोर दिया गया है और वह भी करने के लिए सुज्ञानी जीवो को सम्बोधित किया गया है।

जैन दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्मा पद कोई अलग वस्तु-स्थिति नही बलिक उसका स्वरूप आत्मा के ही परमोत्कृष्ट रूप मे जाज्वल्यमान होता है। आत्मा पर लगा हुआ कर्म का कलुष ज्यो-ज्यो धुलता जाय, गुण स्थान की सीढियो पर चढता जाय, चरम स्थिति होती है कि वही परमात्मा पर पहुँच जाता है। आत्मा से परमात्मा की गतिक्रम रेखा है, एक ही मार्ग के दो सिरे हैं जिनमे कर्म स्वरूप भेद हैं, मूल भेद नही। हमारी यह मान्यता नही कि ईश्वर इस जगत् या कि जगद्वर्ती आत्माओ से प्रारम्भ ही मे विलग रहा है और उसका जगत् की रचना से कोई सम्बन्ध हो। जगत् का क्रम कर्मानुवर्ती माना गया है और उसी अनुवर्तन मे पुद्गल तथा आत्माएँ प्रेरित वा अनुप्रेरित होते हैं और चक्कर लगाते रहते हैं। आत्माएं कर्म चक्र मे फंसती है और धर्म वह आधारशिला है जिस पर चढकर वे इस चक्र से निकलने का पराक्रम भी करती है। इसी पराक्रम की सफलता का अन्तिम विन्दु परमात्मा पद है।

इस दृष्टिकोण से परमात्मा को भजने का अव्यक्त अभिप्राय भी आत्मा को समझना, सँवारना और साधना पथ पर अग्रगामी बनाना ही मूलतः माना जायगा। इसीलिए इस प्रार्थना मे सुज्ञानी जीवो को सम्बोधित किया गया है। जो जीव अज्ञानी हैं, उनमे तो पहले ज्ञान की ज्योति जगानी होगी कि वे आत्मा से लेकर परमात्मा के विकास क्रम को जाने और उसमें आस्था बनाएँ। क्योंकि इस जानकारी के बाद मे ही साधना पथ पर गति

करना प्रारम्भ किया जा सकता है। जिन्हे यह जानकारी भी नही, उनको अज्ञानी कहा गया है और इसीलिए वे ज्ञान को कार्यान्वित करने मे सक्षम नही माने गये है क्योकि परमात्मा को भजने की पूर्व स्थिति उनमे उत्पन्न नही हुई है। जिस प्रकार से सिहनी के दूध को यदि स्वर्ण पात्र के अलावा अन्य धातु के पात्र मे ले लो तो पात्र टूक-टूक हो जायगा। स्वर्णपात्र मे ही यह क्षमता है कि उस दूध को टिका सके। उसी प्रकार सुज्ञानी जीव ही क्षमता रखते है कि वे परमात्मा के भजन मे अपने आपको योग्यतापूर्वक नियोजित कर सके।

अब प्रश्न उठता है कि सुज्ञानी जीव कौन कहे जावें? आत्मा से परमात्मा तक के विकास क्रम का जिन्होने ज्ञान प्राप्त किया है और ज्ञानी होकर उसमे अपनी आस्था जुटाई है, उन्हे सुज्ञानी कहा जायगा। धर्म और उसके दर्शन की जो धुरी है वह है आत्माका परमोत्कृष्ट विकास, इसलिए इस विकास का मूल है आत्मा! कैसी आत्मा? जो कि इस संसार के गतिचक्र मे भ्रमण कर रही है अर्थात् जड़ पुद्‌गलो के संयोग से जन्म-मरण करती हुई बन्धानुबन्ध करती रहती है। तो उस आत्मा का विकास कैसे हो? कौन से कार्य है, जिनसे आत्मा की भूमिका मे उठान पैदा होगी और वह उठान ऊपर-से-ऊपर चढती हुई सासारिक सकट की जड़ को ही काट डालेगी, जड़ और चेतन का सम्बन्ध समाप्त हो जायगा।

यह जो समस्त ज्ञान है वही आत्मा की विकास गति को पूर्णतया स्पष्ट करता है और यही आधारगत ज्ञान है, जिसकी रोशनी मे अन्य सारी विचार सरणियां विश्लेषित होती हैं। इसीलिए जैन-दर्शन मे इस ज्ञान को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है उसे तत्त्वज्ञान कहते हैं और यही तत्त्वज्ञान सुज्ञानी का लक्षण है।

जैन शास्त्रो मे इस तत्त्ववाद का बडा विशद् विवरण है और उसमे विस्तार से बताया गया है कि इन तत्त्वो पर ही आत्मा, परमात्मा और ससार की धुरी घूमती रहती है। यह तत्त्वज्ञान ससार के मूल से लेकर मुक्ति के सुख तक समाहित माना गया है।

इस समूचे तत्ववाद को नौ भागो मे विभक्त किया गया है। यद्यपि अन्य दर्शनो मे कई तत्त्व माने गये है, किन्तु जैन दर्शन इन्ही नौ तत्त्वो को सम्पूर्ण सृष्टि का आधार मानता है, इसलिए परमात्मा के भजन को हम सिर्फ नाम-स्मरण मे ही समाप्त नही मानकर तत्त्व-विचारणा तक ले जाते हैं। इन्ही तत्त्वो का मनन और चिन्तन करते हुए सुज्ञानी जीव इस ससार के भ्रमण चक्र से निकल कर परमात्मा की स्थिति मे परिवर्तमान होते हैं, जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करते हैं।

अतः मैं आपको नौ तत्त्वो का स्वरूप सक्षेप मे स्पष्ट करना चाहूँगा कि इस तत्त्वज्ञान की सीढी से हम भी आत्म विकास की दिशा मे अग्रगामी हो।

ये नौ तत्त्व इस प्रकार हैं—१. जीव, २. अजीव, ३ बन्ध, ४ पाप ५ पुण्य, ६. आश्रव ७. सवर ८ निर्जरा, ९. मोक्ष।

मुख्यतया इन मे से दो तत्त्व प्रधान व महत्त्वपूर्ण हैं और वे हैं जीव व अजीव, जिन्हे अलग-अलग मतो मे जड-चेतन, ब्रह्म माया अथवा प्रकृति-पुरुष नामो से पुकारा गया है। इन दोनो तत्त्वो मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थों का समावेश हो जाता है।

हाँ, भौतिकवादी इन तत्त्वो के बारे मे अपना मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि जीव जैसा कोई तत्त्व नही होता। सिर्फ परमाणु अर्थात् जड होता है, वही विकास की सीढियाँ चढ़ता हुआ विभिन्न रूप धारण करता रहता है। यही परमाणु विकास करते-करते जीवाणु बनते हैं, जन्तुओ के आकार प्रकारो मे ढलते हैं और वानर से लेकर मानव तक का रूप बदलता रहता है और ये ही जीव-जन्तु व मानव मृत्यु की गोद मे जाते हुए पुनः जड-पुद्गल रूप मे बदल जाते हैं। इस प्रकार भौतिकवादी आत्मा जैसी किसी शक्ति को नही मानना चाहते, उनका मानना है कि जैसे आपकी शक्ति से रेलगाडी चलती है, बिजली से मशीनें चलती हैं, उसी प्रकार विभिन्न परमाणुओ के सम्मिलन मे जीव-जन्तु शक्ति प्राप्त करते हैं और अपना जीवन प्रदर्शित करते हैं किन्तु जब वे परमाणु फिर से विलग हो जाते हैं तो

जीवन समाप्त हो जाता है उसी प्रकार जिस प्रकार की भाप खत्म हो जाने पर इजिन ठप हो जाता है। वे जड को ही महत्व देते है।

किन्तु जैन दर्शन ऐसी विचारणा को मिथ्या मानता है। चेतन जड़ से विकसित नही होता, बल्कि एक अलग शक्ति होती है निराकार जो जड के साथ मिलकर ससार के विविध रूपो का निर्माण करती है। जड से जड-परमाणु का विकास हो सकता है, चैतन्य का उससे कतई विकास नही हो सकता, क्योकि जिस पदार्थ मे जो सत्ता है ही नही, वह उसमे किसी कदर उत्पन्न नही हो सकती। रेल का इजिन जड है तो उसमे चेतन शक्ति न तो कभी उत्पन्न हो सकती है, न उसकी जड शक्ति कभी भी विकसित होकर चेतन मे बदल सकती है। भौतिकवादियो की ऐसी धारणा न तो वास्तविक है, न बुद्धिगम्य ही। क्योकि रजकणो को जीवन-पर्यन्त भी पेलते रहो तो भी कभी उनसे तेल नही निकल सकता, कारण कि तेल की सत्ता अर्थात् स्निग्धता का सद्भाव तिलो मे है किन्तु रजकणो मे नही है तो उसमे से वह सत्ता कभी भी प्रादुर्भूत नही हो सकती। अतः जैन दर्शन की मान्यता सत्य है कि चैतन्य शक्ति का विकास चैतन्य शक्ति से ही होता है तथा जड का सम्बन्ध छूट जाने पर चैतन्य शक्ति पुन. अपने मौलिक स्वरूप निखिल चैतन्यता मे प्रज्वलित हो उठती है।

तो अब हम विचार करें कि जीवतत्व की परिभाषा क्या ? जीव शब्द का पर्यायवाची है सच्चिदानन्द जिसमे तीन शब्द मिले हुए है, सत्‌चित् और आनन्द। सत् का अर्थ है—"कालत्रय तिष्ठति इति सत्" अर्थात् जो तीनो काल मे स्थायी रहता है वह सत् है। सत् की यह भी व्युत्पत्ति है कि—"उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सत्", जो पर्याय बदलने की दृष्टि से पैदा हो, नष्ट हो जाय किन्तु द्रव्य रूप से नित्य व शाश्वत रहे वह सत् होता है। हमारे लिए यह सत् है कि हम भूतकाल मे थे, वर्तमान मे हैं और भविष्य मे रहेंगे। इसमे तीनो कालो मे द्रव्य रूप से आत्मा नित्य बना रहता है जो कि पर्याय रूप से एक ही जीवन मे बाल, युवा, वृद्धत्व की अवस्थाएं बदलती हैं और एक जीवन के बाद दूसरा जीवन आत्मा धारण करता रहता है। तो जब

बाल्यकाल हो या कि वृद्धावस्था अथवा एक जीवन हो या कि दूसरा जीवन, इन सब अवस्थाओ मे जिस एक रूप चैतन्य की अनुभूति होती रहती है, वही आत्मा का रूप है, जीव की शक्ति है। शारीरिक दशाओ मे अथवा जन्म-मरण की योनियो मे परिवर्तन होता रहता है किन्तु आत्मा नही पलटता है। जैसे कि गीता मे भी कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

देह मे रहने वाला देह का अधिष्ठाता देह के बाल, युवा, व वृद्ध रूप मे पलटने पर भी स्वय नही पलटता है। शरीर की तो व्याख्या ही यह की गई है कि जो शनैः-शनैः क्षरण होता रहता है, क्षीणत्व को प्राप्त करता रहता है लेकिन उसमे व्याप्त, उसका द्रष्टा आत्मा सदा काल शाश्वत रहता है। अतः उसे सत् माना गया है। इसमे भी एक तर्क उत्पन्न होता है कि क्या सत् उसे माना जाय जो त्रिकाल मे स्थायी बना रहता है और वह सत् चैतन्य होता है तो सिर्फ यही व्याख्या शकास्पद हो सकती है क्योकि जड भी त्रिकाल मे बना रहता है तो क्या वह भी सत् होकर चैतन्य हो गया।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। चैतन्य का रूप जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सत् चित् और आनन्द तीनो गुणो मे पूर्णतया प्रकट होता है। जड़ में इस तरह सत गुण तो हैं किन्तु अन्य गुण तो नही है इसलिए वह चेतन नही कहला सकता।

चेतन का दूसरा गुण है चित् अर्थात् जो अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वय ही प्रकाशमान होकर दूसरो को भी प्रकाशित करता है। जैसे अधकार मे रखे हुए घट-पटादि को कोई व्यक्ति देखने लगे तो वह उन्हे देख नही सकेगा क्योकि घट-पट मे प्रकाशित होने की शक्ति नही, उन्हे बाहर के प्रकाश की अपेक्षा रहती है। अगर वह व्यक्ति दीपक लेकर वहाँ जावे तो उन घट-पटादि को देख सकेगा। अत. जिस प्रकार घट-पटादि को देखने के लिए दीपक की आवश्कयता होती है किन्तु स्वयं दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नही होती क्योकि दीपक स्वयं

प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा स्वय प्रकाशमान होता है तथा दूसरों को भी प्रकाशित करता है। हमे अनिष्ट पदार्थ से दु ख उत्पन्न होता है, इष्ट से सुख मिलता है तो यह जो अनुभव होता है कि दु ख अप्रिय है और सुख प्रिय है, वह आत्मा स्वय करता है और उसी अपने अनुभव को वह दूसरो पर प्रकट भी करता है तब वही अनुभव दूसरो के लिए भी ज्ञान का रूप धारण कर लेता है एव यह अनुभव और ज्ञान की सृष्टि का सवाहक तथा सचालक बनता है।

जैसे व्याख्यान मे बहिनें बैठी हुई है वे जब अपने रसोईघर मे पकवान बनाती हैं तो उस समय उन्हे चख भी लेती हैं यह मालूम करने के लिए कि उनका स्वाद ठीक तो बन पडा है। वह स्वाद जब उन्हे सुरुचिकर लगता है तो वे यह समझ लेती हैं और सही समझ लेती है कि वही स्वाद दूसरे खाने वाले भी अनुभव करेंगे, क्योकि वे स्वयं प्रकाशित होकर दूसरो को भी प्रकाशित कर रही है। यही शक्ति चैतन्य शक्ति है। क्या यह ज्ञान और अनुभूति जड मे हो सकती है ? सत् होते हुए भी चित् जड़ मे नही है।

चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। हम हैं और हम अनुभव करते हैं उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है। जब इन्द्रिय जन्य इष्ट विषयो का भी संयोग इन्द्रियो के साथ होता है तो उससे चाहे वह क्षणिक हो किन्तु जो एक विभोरावस्था पैदा होती है वह भी जिस प्रकार आनन्द लगता है और आनन्द विभोर होकर नाचने-कूदने की अवस्था पैदा होती है तो जब आत्मा ज्ञान मे रमण करता है, अपने पराक्रम का अनुभव करता है तो उसमे जिस अलौकिकता का भाव जागता है वही चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। इन्द्रिय-जन्य आनन्द को आनन्दाभास कहा है क्योकि वह आनन्द क्षणिक होता है और आत्मा को आनन्दमय नही बनाता। उसका परिणाम कटु होता है इसलिए आत्मिक आनन्द वही है जो आत्मिक गुणो की परिवृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और परिवृद्ध होता रहता है।

वैसे मानव आनन्द की अनुभूति तीन दशाओ मे करता है—जागृति, सुषुप्ति एव स्वप्निल। जागते हुए इन्द्रिय-जन्य सुखो का उपभोग किया जाता

है और उसके परिणाम भी स्पष्ट अनुभव आते हैं। स्वप्नावस्था मे इन्द्रियाँ सो जाती हैं लेकिन मन जागता रहता है और वही अपनी कल्पना के अनुरूप स्वप्निल सृष्टि की रचना करता रहता है। तीसरी सुषुप्ति अवस्था है—इसमे इन्द्रियाँ और मन सब सो जाते हैं अर्थात् प्रगाढ निद्रा आ जाती है जो अवस्था निरोगी व्यक्ति द्वारा आनन्दित व उपभोगित होती है। इस समय आत्मा अपूर्व सुख का अनुभव करता है। यद्यपि यह आनन्द अव्यक्त रहता है किन्तु उसकी अनुभूति फिर भी अत्यन्त सुखकर प्रतीत होती है। गहरी नींद के बाद शरीर हल्का और बुद्धि सतेज मालूम देती है। मन और मस्तिष्क से यह आनन्द बडा ही निराला लगता है।

तो यह आनन्द कब भोगा जा सकता है जब इन्द्रियाँ व मन का व्यापार बन्द होकर केवल आत्मा सजग रहता है वह भी सिर्फ अनुभूति की दृष्टि से। तो कल्पना कीजिये कि आत्मा की यह एकाग्रता यदि जागृत अवस्था मे बनने लगे, मन और इन्द्रियो की गुलामी छूटकर जीवन का क्रम आत्मा की आन्तरिक आवाज़ का अनुकरण करने लगे तो वह आनन्द वास्तव मे विशिष्ट आनन्द होगा और उसी आनन्द की निरन्तर बढती हुई अनुभूति मे आत्मा का पावन स्वरूप निखरता जायगा।

जब तक यह आनन्द देश, काल और वस्तु की परिधियो मे बन्द रहेगा तब तक वह आनन्द न होकर आनन्दाभास मात्र रहेगा। क्योकि देश की अपेक्षा मे आप सोचते है कि ग्रीष्मकाल मे नैनीताल या नीलगिरी शीत प्रदेश होने से आनन्ददायक होते है किन्तु वे ही प्रदेश शीतकाल मे आपको आनन्ददायक नही हो सकते। इसी प्रकार काल और वाह का भी हाल है। वह आनन्द एक समय मे होगा, एक प्रदेश मे होगा अथवा कि एक पदार्थ मे होगा किन्तु दूसरे ही समय, प्रदेश या पदार्थ की उपलब्धि होते ही वह नष्ट हो जायगा।

अत: यह आत्मिक आनन्द देश काल वस्तु से रहित वर्णादिक भाव शून्य आत्मा मे ही निहित है और उसी मे रमण करता हुआ आत्मा परम आनन्द को प्राप्त होता है। इस प्रकार सत्-चित् और आनन्द के गुणो वाला

जीव तत्त्व ही मोक्ष का मूल है। यह जीव तत्त्व की परिभाषा है और सक्षेप कहा जाय तो "उपयोग लक्षणो जीवः" अर्थात् उपयोग लक्षण वाला जीव है।

यह जीव तत्त्व जब अजीव तत्त्व के साथ मेल करता है तो ससार की सृष्टि होती है। आत्मा जीव है किन्तु शरीर के पुद्गल जड है और जब ये दोनो सम्बन्ध जोडते हैं तब चलता-फिरता शरीर नजर आता है। सारे संसार मे या तो जीव और अजीव के सम्बन्धो के आकार प्रकार हैं अथवा इस सम्बन्ध से रचित पौद्गलिक पदार्थ। ये सब मिलकर सारे दृश्य जगत् का ढाँचा बनाये हुए हैं।

अजीव तत्व याने जड-पुद्गल का स्वभाव सडना, गलना, बदलना और नित्य प्रति इसकी पर्याएं बदलती है। शरीर को ही देखिये बालक का असहाय शरीर युवक के सुगठित शरीर मे बदलता है किन्तु एक दिन वही सुगठित शरीर वृद्धावस्था के नखदन्तहीन जर्जर शरीर मे बदल जाता है और आत्मा के निकलते ही श्मशान मे जलाने योग्य हेय हो जाता है। यही अवस्था अन्य सारे पुद्गलो की है जो नष्ट-भ्रष्ट होते रहते हैं।

और जीव व अजीव को बाँधने वाले तत्व का नाम है बध तत्व। इस शक्ति के द्वारा पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्धित होते रहते हैं और जीव और अजीव तत्व का मेल कराके उन्हे ससार मे परिभ्रमण शील बनाये रहते है।

यह बंध होता है आत्मा के साथ कार्माण वर्गणा के पुद्गलो का। जैसे कोई तैल मालिश करके रेती पर लेट जाय तो अजीव होते हुए भी रेत कण उसके शरीर से चिपक जाऐंगे उसी प्रकार से जब आत्मा अशुभ व शुभ भावनाओ मे बहता है और उससे प्रेरित होकर वैसे ही कार्य करता है तो रेत कणो की तरह कार्माण वर्गणा के अशुभ या शुभ पुद्गल आत्मा के साथ सलग्न होते है—इन्हे ही पाप या पुण्य कर्म कहा गया है।

पाप और पुण्य तत्त्व बध के फलस्वरूप सामने आते है और दोनो अशुभ या शुभ फलदायक होते है। इन्ही तत्वो के कारण आत्मा जगत् मे परिभ्रमण करता हुआ सासारिक सुखो या दुःखो का अनुभव करता रहता

है। अशुभ कर्मों से पाप का बंध होता है और दुःखदायक परिणाम देता है। उसी तरह शुभ कार्यों से पुण्य का बध होता है और वह सुखद फल देता है तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य प्रकृति मे आत्मिक साधना मे भी सहायक होती हुई वीतराग अवस्था के गुण स्थानो मे भी रहती है लेकिन मोक्ष की दृष्टि से वह पुण्य प्रकृति भी त्यागनी पड़ती है और पापानुबन्धी पुण्य प्रकृति मे संसार बढाने मे सहायक होती है। इनके चक्कर से आत्मा जड़ से सम्बन्धित ही रहती है, जड से छूटकर मुक्ति की मजिल तक नही पहुँच सकती।

अशुभ लगावट आत्मा के साथ होती है उसे आश्रव तत्व कहा है आश्रव तत्व से आत्मा की मलिनता बढती रहती है और वह ससार के कीचड़ मे अधिक-से-अधिक दुर्दशाग्रस्त होकर फँसता रहता है। शुभ योग तथा योग निरोध को संवर कहा है। यद्यपि सवर तत्व आत्मोत्थान में सहायक होता है किन्तु उसी तरह जिस तरह नाव नदी को पार करने में सहायक होती है। शुभ कर्मों से शुभ सयोग मिलते हैं और आत्मा को ज्ञान उद्बोध मिलता है तथा उसमे मुक्ति हित पराक्रम करने की भावना जागती है लेकिन आत्मा को मोक्ष प्राप्ति तभी होगा जब शुभ योग (पुण्य) भी आत्मा छुटकारा प्राप्त कर लेगी। क्योकि नदी नाव से जरूर पार होगी किन्तु पार करके किनारे पर पहुँचने के लिए नाव का सहारा भी छोड़ देना पड़ेगा। उसी तरह पुण्यतत्त्व मुमुक्षु आत्मा को ससार से वैराग्य लाने में सहायता करेगा किन्तु मुक्ति मे पहुँचाने के लिए आत्मा को पुण्य का आश्रव भी छोड़ना ही पड़ेगा।

संलग्न कर्म पुद्गलो से आत्मा को छुटाने वाला तत्व है निर्जरा तत्व। निर्जरा का अर्थ है कर्म क्षय। जहाँ पिछले तत्व शुभ व अशुभ कर्मों की उत्पत्ति करते हैं वहाँ इस तत्व द्वारा कर्मों का नष्ट करना है। जब साधना और त्याग की उत्कृष्ट सरणियो मे आत्मा विहार करता है एव सासारिकता की गृहिणो से बहुत ऊपर उठकर अपने मूल स्वरूप सत् चित् और आनन्द मे तल्लीन हो जाता है तो सभी के प्रकार कर्म क्षय होने लगते हैं अर्थात्

जीव के साथ अजीव का सम्बन्ध क्रमशः टूटता जाता है और चेतन तत्व विशेष से सविशेष रूप प्रकटित होता जाता है।

और एक दिन जब आत्मा जड की लगावट को पूरे तौर पर खत्म कर देता है और शरीर के अन्तिम बन्धन से जब वह छूट जाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है। इसे ही मोक्षतत्व कहा गया है। तब आत्मा निर्विकार, निराकार रूपी हो जाता है और नित्य व शाश्वत रूप से ससार से विलग हो जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन के ये नौ तत्व-समूचा तत्ववाद सासारिक आत्मा से मुक्त आत्मा की प्रक्रिया का दर्शन है या यो कहे कि आत्मा के चरम विकास का गति चक्र है।

इसलिए मैं फिर दोहराऊँ कि परमात्मा का भजन करो इसका अर्थ है कि आत्मा के स्वरूप को समझो और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तभी स्पष्ट हो सकेगा जब इस तत्ववाद को हम हृदयगम कर लेगे। तत्ववाद से ही हम जान सकेंगे कि आत्मा कैसे गिरता है और कैसे उठता है? वे कौनसी जड शक्तियाँ है जा आत्मा को मलिन बनाती हैं और उनसे छुटकारा पाने की कौनसी साधना है जिससे आत्मा ऊपर से ऊपर उठती जायगी? अत. इस तत्ववाद का चिन्तन, मनन कीजिये ताकि हम भी अपनी आत्मा-स्थिति का उत्थान करके एक दिन अन्तिम तत्व की प्राप्ति कर सके। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।

अलवर ता० २४-३-१६५८

सर्वोदय-भावना का विस्तार

जय जय जगत् शिरोमणि.......... . ...

परमात्मा और जगत् का किसी-न-किसी रूप मे सदैव सम्बन्ध रहा करता है। पहले तो जगत् के इस विशाल प्रागण मे ही परमात्मपन की सिद्धि के लिए कठोर साधना करनी पडती है, जबकि वह साधक आत्मा भी अन्य सासारिक आत्माओ की ही तरह विकार-मल से कलुषित होता है। दूसरे जब मुक्त होने पर वह साधक आत्मा ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है तो चाहे उसका जगत् से सम्बन्ध नही रहता, किन्तु जगत् का मुक्त आत्मा से विशिष्ट सम्बन्ध हो जाता है, क्योकि अन्य सासारिक प्राणियो के विकास हित वह मुक्तात्मा एक अनुकरणीय आदर्श के रूप मे उपस्थित हो जाता है। इसीलिए कवि प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभु! आपकी जय हो, क्योकि आप जगत् रूपी शरीर के सिर मे जडी हुई मणि के समान हो!!" प्रभु की पूजा इसलिए है कि 'नर से नारायण' बनने मे जो उन्होने अत्युत्तम विकास किया है, वह विकास विजय का चिह्न है और इसलिए माननीय है। उनके विकास के रास्ते को देखकर हमारे हृदय मे एक अद्भुत प्रेरणा जागृत होती है और वही प्रेरणा आत्मोत्थान के लिए अति आवश्यक होती है। यह नही है कि सासारिक प्राणियो के चरम विकास से परे हो कोई 'ईश्वरत्व' है, जिसका स्वरूप अनादि काल से ही वैसा ही था। ऐसा 'ईश्वर' प्रगति के लिए कदापि प्रेरणा का स्त्रोत हो नही सकता। मनुष्य मे परम ईश्वर तक पहुँचने की जिज्ञासा तभी उत्पन्न होती है, जब वह यह देखता है कि उसमे भी वह व्यापक शक्ति समाई हुई है, जो ईश्वर मे होती है किन्तु वह अविकसित होने की अवस्था मे प्रकाशित नही होती तो उसमे कर्मण्यता के भाव पैदा होना सहज स्वभाविक है। इस प्रकार परमात्मा और जगत् का साध्य-साधन के रूप मे बना हुआ सम्बन्ध ही प्रगति की रूपरेखा को सदैव

हरा-भरा रखता है।

यहाँ कवि ने परमात्मा की जय का जो नारा लगाया है, उसमे न केवल परमात्मा की ही जय उद्घोषित होती है, किन्तु परमात्मा के साथ-साथ सारे ससार की ही जय का नारा उठता है। लोक रूपी शरीर मे सिद्धात्माएँ शिरोमणियाँ स्वरूप हैं, क्योंकि जिनके ज्ञान रूपी प्रकाश मे सारा "हस्तामलकवत्" प्रतिभासित होता है। जहाँ मस्तिष्क की जय है, वहाँ सारे शरीर की भी जय हो ही जाती है, क्योंकि मस्तिष्क की जय मे भी तो सारे शरीर के कार्य का सहयोग छिपा है तथा छिपी है मस्तिष्क से स्वसचालन के हेतु शरीर को प्राप्त होने वाली सजग प्रेरणा। अर्थात् दोनो किसी-न-किसी रूप मे अभिन्न है और दोनो पहिले—बाद सही किन्तु एक दूसरे के सहायक है।

अतः जिस प्रकार भारत की विजय मे केवल उस पर शासन करने वाली सरकार की ही विजय नही होती, किन्तु उसके समस्त निवासियो की विजय होती है उसी प्रकार परमात्मा की जय मे ससार के सभी प्राणियों की जय है, चाहे उन प्राणियो मे जैन हिन्दू-मुस्लिम हो या पूँजीपति-मजदूर हो या मित्र-शत्रु, व मानव-पशु हो। इस भावना का नाम ही सर्वोदयवाद है। परमात्मा हमारे सम्बन्धो का एक माध्यम है कि उसके द्वारा हम परस्पर समानता का वातावरण स्थापित करने का प्रयास करते है। 'सबका उदय हो, सब मानवता के रहस्य को समझ कर अपनी अन्यायपूर्ण 'विशेषता' को छोडे और विश्वबन्धुत्व की स्थापना करे'—इसी मे परमात्मा की जय बोलने का सार रहा हुआ है। आज हम अपनी जय चाहते हैं, किन्तु अपने विरोधी शत्रु की जय नही चाहते, उसका विनाश देखने की उत्सुकता रखते है, यही अज्ञान है और परमात्मा के स्वरूप को वास्तविकता से नही समझने का फल है। परमात्मा के स्वरूप को पहिचानने वाला सच्चा भक्त अपनी जय नही चाहता। वह तो समस्त प्राणियो की जय मे ही अपनी जय समझता है। सभी पर उसकी समताभरी दृष्टि होती है।

मै पहले ही कह चुका हूँ कि कवि का शिरोमणि की जय बोलने मे

आशय समस्त प्राणियों की जय बोलता है। मस्तिष्क की जय बोलने में सभी अंगों की स्वाभाविक जय समझी जाती है, क्योंकि सभी अगो का पारस्परिक सहयोग के नाते कदाचित अभिन्न सम्बन्ध है। मस्तिष्क का अस्तित्व ही इस बात पर है कि उदर रस बनाकर भोजन पचाता है या नही, पैर और हाथ इधर-उधर सब जगहो में भटक कर उसे अनुभव लेने का अवसर देते हैं या नही, अन्यथा अन्य अगो के सहयोग के बिना मस्तिष्क अपनी उन्नत श्रेणी तक कभी नही पहुँच सकता। सभी अंगो के सहयोगपूर्ण सम्मिलित कार्य में ही शरीर की सुन्दरता तथा स्वस्थता का सद्भाव हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि समाज के सहयोग से ही व्यक्ति का विकास होता है और वह उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है। जैसे सभी अगो के कारण से मस्तिष्क विचारक्षम व गभीर चिन्तन करने वाला होता है, उसी तरह समाज के सरल सौहार्द्रमय वातावरण मे ही महान् विभूतियो और महात्माओ का जन्म होता है और जैसे मस्तिष्क अधिक विचारक्षम होने के पश्चात् अन्य अगो का विशेष रूप से रक्षण व पोषण करता है, उसी प्रकार वे महान् विभूतियाँ और महात्मा अपना सब-कुछ समाज के हितार्थ बलिदान कर देते हैं। किन्तु ये महान् विभूतियाँ जब मुक्त हो जाती हैं, निर्वाण प्राप्त कर लेती हैं, तब वे कवि के शब्दो मे 'जगत् शिरोमणि' हो जाती हैं और फिर ये 'शिरोमणियाँ' अपने शुभ्र एव धवल प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को आलोकित कर देती हैं।

सभी अगो के समुचित सहयोग का प्रश्न समाज के निज के सामूहिक विकास के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। जब तक अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थों का समाज मे प्रत्यावर्तन होता रहता है, तब तक सामाजिक जीवन में शान्ति रहती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सभी अंगो की सहायता से शरीर के पोषक तत्व खून द्वारा शरीर के सभी भागो मे पहुँचाये जाते हैं। किन्तु जब यह प्रत्यावर्तन बन्द हो जाता है या रुक जाता है, चाहे वह समाज में हो या शरीर मे, तभी स्वास्थ्य बिगड़ने लग जाता है। जब समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति के हृदय मे संग्रह की

भावना उत्पन्न होती है, अपनी ही स्वार्थपूर्ति की आकांक्षा सजग हो उठती है, तब समाज मे संघर्षपूर्ण विषमता पैदा होती है और वह सामाजिक अशान्ति का मूल कारण बन बैठती है।

आज का संघर्ष भी पूंजीपतियो की बढती हुई धनलिप्सा एव अन्यायपूर्ण भावना ही है। संग्रह वृत्ति की राक्षसी मदान्धता ने ही चोर-बाजार, रिश्वत आदि अमानुषिक प्रवृत्तियो को जन्म दिया है। अतः पूंजीपति जब तक अपनी संचय बुद्धि को त्याग कर अपने द्रव्य का आवश्यकतानुसार वितरण करने की ओर नही झुकेंगे, तब तक राष्ट्र और समाज मे विषमता का नाश होकर शान्ति की स्थापना होना दुष्कर है। जैसे शरीर अपने अगों मे विभेद न रखकर ही स्वस्थ रह सकता है, उसी प्रकार समाज की स्वस्थता भी परिग्रह का साम्यदृष्टि से वितरण करने मे है।

अब मैं समाज की वर्तमान वर्ण-व्यवस्था की आलोचना करते हुए बतलाना चाहूँगा कि समाज के विभिन्न अगो मे क्योकर भेद उत्पन्न कर दिया गया और इसके कारण किस प्रकार एक अग पोषण और दूसरा अग पोषण के अभाव मे विकृत हो चला? इसके साथ यह भी बताऊँगा कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कब और किस उद्देश्य को दृष्टिकोण मे रखकर हुई?

जैसे शरीर के चार प्रमुख अग होते है, उसी प्रकार समाज मे कर्त्तव्यो को दृष्टि मे रखकर चार वर्णो की स्थापना हुई। जो लोग सशक्त और युद्ध-कला मे निपुण थे, उन्होने रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और वे क्षत्रिय कहलाये। जिन लोगो को अध्ययन और आध्यात्मिक क्षेत्र मे अधिक रुचि थी, वे ब्राह्मण कहलाये और उन्होंने समाज मे नीति व धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया। जिस समुदाय को शुद्र कहा जाता है, उसने अपनी सर्वोच्च व तीव्र सेवा भावना से समाज की नीची-से-नीची सेवा करने की इच्छा प्रकट की और समाज के हर तरह के काम के लिए उन्होने अपने-आपको समर्पित कर दिया। किन्तु इन तीनो वर्गो के भरण-पोषण का सवाल उठ खड़ा हुआ। सभी समाज के अलग-अलग कामो को पूरा करेंगे, मगर खाना कहाँ

से आवेगा ? तो समाज के एक हिस्से ने यह उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि व्यापार, खेती आदि साधनो से जीवनोपयोगी पदार्थ उत्पन्न कर वह समुदाय समग्र समाज के भरण-पोषण का प्रबन्ध करेगा तथा यह समुदाय 'वश्य' कहलाया।

समाज की सुव्यवस्था को लक्ष्य मे रखकर ही सम्भवत यह वर्ण-विभाग हुआ होगा, किन्तु समय प्रवाह के साथ यह वर्ण-विभाग विकृत की ओर बढ चला। कर्त्तव्य की अपेक्षा जातिवाद को अधिक महत्व दिया जाने लगा। अपने को श्रेष्ठ बताकर अपनी ही पूजा-प्रतिष्ठा कराने के लिए अन्य वर्णों का तिरस्कार और निरादर किया जाने लगा। शूद्रो को सबसे निकृष्ट माना जाने लगा, जिन्होने समाज की कठोरतम सेवा करना स्वीकार किया था और तो क्या, शूद्रो को शास्त्र सुनने का भी अधिकार नही बताया गया। यदि कोई भूल से सुन लेता तो उसके कानो मे गरम शीशा डाल दिया जाता था। शूद्रो का तिरस्कार करने की प्रवृत्ति का जन्म ब्राह्मण-सस्कृति की विकृति से ही हुआ।

ब्राह्मण यदि आचार-विचार से श्रेष्ठ है और इसलिए वह ऊँचा रहे तो इसमे किसी की असहमति नही हो सकती, किन्तु शूद्रो का, क्योकि वे शूद्र हैं, तिरस्कार करना सर्वथा अन्याय है। शरीर के अन्य अगो को वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके तथा सिर पर तुर्रे लगाकर सुन्दर साफा बाँधकर शरीर के निम्न भाग को तिरस्कृत समझ यदि नग्न ही रखा जाय तो वह शोभनीय प्रतीत होगा ? वह तो शरीर का एक उपहासास्पद स्वरूप हो जायगा। यही आज के समाज का हाल है।

जैन-सस्कृति का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि—

कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।
कम्मुणो वेसयो भवई, सुद्दो हवई कम्मुणा ॥

कर्म अर्थात कार्य (आचार-विचार) से ही ब्राह्मणत्व आदि का आरोप किया जा सकता है। जैन-सस्कृति वर्ण को बपौती के रूप मे नही मानती कि ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण ही है, चाहे व विलासी, हत्यारा और पापी

सब कुछ हो, तथा शूद्र का बेटा शूद्र ही हो, चाहे त्याग और चारित्र्य की दृष्टि से उसका जीवन दूसरो के लिए अनुकरणीय बना हुआ है। जैन-सस्कृति तो गुण पूजक है। वह क्षत्रिय, ऋषभ, महावीर आदि तीर्थंकरो, ब्राह्मण गौतम आदि गणधरो, वैश्य धन्ना, शालिभद्र महान् त्यागियो और शूद्र (भगी) हरिकेशी आदि मुनिवरो की सबकी हृदय से आराधना और उपासना करने का आदेश देती हैं। इसलिए नही कि वे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, या शूद्र थे, बल्कि इसलिए कि वे गुणधारी थे, उन्होने निज का जीवन विकसित कर अन्य प्राणियो के जीवन विकास की ओर अपनी सभी शक्तियो को लगाया। जैन-सस्कृति के सामने वर्ण का कतई दृष्टिकोण नही है, उसके सामने तो आत्मिक विकास की महिमा है।

आज समाज के हरिजन-उद्धार की एक समस्या है। महात्मा गाधी ने इस क्षेत्र मे महान् आन्दोलन किया है और अब तो भारतीय सविधान द्वारा छुआछूत को अपराध करार दे दिया गया है। किन्तु यह समस्या अब भी समस्या है और जब तक विचारो मे जोरदार आन्दोलन नही होता, यह समस्या हल नही हो सकती। समाज मे हरिजन यदि अपना काम करना छोड दें तो तत्काल अन्य वर्णों की तबियत ठिकाने आ जाय। भारत मे ही मानवता के क्रूर अपमान का दृश्य इस रूप मे हमे देखने को मिलता है। कुत्तो को चूम-चूमकर प्यार किया जाता है, किन्तु भूख और रोग मे सड़ते हुए इस मानव की ओर रूढिवादी सवर्ण देखना भी नही चाहता। धूलियागंज मे मुझे एक भाई ने पूछा कि 'हरिजन का हमारे मन्दिर मे प्रवेश न हो इसके लिए हमारे एक मुनि (दिगम्बर) ने अनशन करके प्राण त्याग दिये, इस विषय मे आपका क्या विचार है?'

मैंने कहा—"जैन दर्शन मे तो जातिवाद को कही महत्व नही दिया गया है, फिर छुआछूत का उसके सामने विचार ही नही उठता अत. शुद्ध जीवन व्यतीत करने वाले हरिजन के लिए भेदभाव का कोई प्रश्न नही हो सकता।"

जैन-दर्शन विशाल और व्यापक विचारधारा लेकर चलता है। प्रत्येक

मानव ही नही, प्रत्येक प्राणी को समता की दृष्टि से देखता है। किन्तु इसका ही एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो अन्य दर्शनो के समान सकुचित विचार-धारा रखता है। वह है दिगम्बर सम्प्रदाय, जो शूद्र को मोक्ष का अधिकारी नही मानता और इस प्रकार शूद्र व स्त्री को मोक्ष के अधिकार से वचित कर दिया है। प्रतिगामी विचारो का ही प्रदर्शन किया है। उनका कहना है कि गुणस्थान मे अर्थात् साधुत्व मे स्त्री गोत्र का उदय नही होता और सूत्र मे नीच गोत्र का उदय है, एतदर्थ वह उक्त गुणस्थान को स्पर्श नही कर सकता और उसका स्पर्श किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। यह उपयुक्त है किन्तु 'गोत्र' शब्द से जाति का अर्थ लेना कतई ठीक नही कहा जा सकता। जाति विशेष को लक्ष्य मे रखकर गोत्र शब्द की व्याख्या इसी सम्प्रदाय ने की है। किन्तु ठाणायाग सूत्र की टीका मे 'गोत्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—

"अय सत्पुरुष, अयं धर्मात्मा, अय सदाचारी, एतादृशां गा वाणीं त्रायते, रक्षतेति उत्तम गोत्रः।"

अर्थात्—श्रेष्ठ कर्त्तव्य के द्वारा जो श्रेष्ठ वाणी की रक्षा करता है, वह उच्च गोत्र वाला है। और—

"अयं शूद्र., अयं दुराचारी, अय दुष्टात्मा:, एतादृशां गा वाणीं त्रायते रक्षतेति नीच गोत्र.।"

अर्थात्—अपने नीच कर्म द्वारा निकृष्ट वाणी की जो रक्षा करता है, वह नीच गोत्र वाला है।

इस प्रकार ऊंच-नीच गोत्र जाति विशेष से नही, किन्तु भावना व कर्म विशेष से है। गुणस्थान का स्पर्श भी भावना से होता है। निकृष्ट स्थान मे भी उत्पन्न व्यक्ति श्रेष्ठ भावना रखता है तो वह ऊपर के गुण-स्थानों का स्पर्श कर सकता है। हरिकेशी मुनि का ज्वलन्त उदाहरण इसी सत्य को स्पष्ट करता है। ये मुनि हरिजन कुल मे पैदा होने पर भी अपने दिव्य गुणो के कारण, देवेन्द्र, नरेन्द्र और क्रियाकाडी, जातीयाभिमानी विप्रो के भी पूज्यनीय बने थे। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विशिष्ट गुण-

युक्त व्यक्ति ही उत्तम गुणस्थानो का स्पर्श कर सकता है। उसमे जाति का कोई महत्व नही। ऊँच और नाच गोत्र कषायो पर ही अवलम्बित है। तीव्र कषाय वाला नीच गोत्रीय है और मन्द कषाय वाला ऊँच गोत्रीय।

अतः जिस प्रकार अशुचि के साफ करने से हम माता को घृणित नही समझ लेते, बल्कि उसके प्रति विनम्र और आज्ञाकारी होते है, उसी प्रकार हरिजन भी समाज के लिए माता के तुल्य समझे जा सकते है और इनके प्रति भी यथायोग्य समान व्यवहार की आवश्यकता है।

मेरे कहने का निष्कर्ष यही है कि सर्वोदयवाद के महत्व को समझे और परमात्मा की जय बोलने मे सब प्राणियो के साथ साम्य दृष्टि को अपनाएँ। वैभव और ये शरीर आदि सब नश्वर हैं, एक दिन नष्ट हो जायँगे और साथ रह जायगा वही, जो कुछ किया है। जैनशास्त्रो मे परदेशी राजा का उदाहरण आता है, जिसके हाथ निर्दोषो के खून से सने रहते थे, वह भी केशी श्रमण के उपदेश से त्याग पथ की ओर अग्रसर हुआ। आज भी उसी त्याग की आवश्यकता है, समाज की सघर्षमय विषमता को मिटाने के लिए। शोषण का हमेशा के लिए खात्मा कर दिया जाय, इसके लिए अपनी वासनाओ और आवश्यकताओ को सीमित करना चाहिए और अपने वैभव का अमुक हिस्सा दानादि शुभ कार्यो के लिए निर्धारित किया जाना चाहिए। आप यहाँ बैठे हुए सज्जन भी दान आदि शुभ कार्य का अपना हिस्सा निकालने का व्रत लें। इस पर कई श्रावको ने ऐसा व्रत लिया।

अन्त मे यही कहना चाहता हूँ कि समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझे, सबसे प्रेम करे, सबकी रक्षा करे, यही सर्वोदयवाद है और इसी मे परमात्मा की जय यथार्थ रूप से बोली जा सकती है।

जैन धर्म का ईश्वरवाद कैसा ?

सुविधि जिनेश्वर वन्दिये हो,
वन्दत पाप पुलाय ।

यह सुविधिनाथ भगवान की प्रार्थना है । इसमे कवि विनयचन्द जी कहते हैं कि हे भव्य पुरुषो, परमात्मा को नमस्कार करो, क्योकि नमस्कार करने से तुम्हारे सकल पाप पुज नष्ट हो जायेंगे ।

लेकिन प्रश्न पैदा होता है कि जब परमात्मा दृष्टगोचर ही नही होता तो किसे वन्दन करें ? वह परमात्मा कहाँ है, कैसा है ? आप लोग सोचते होगे कि जब परमात्मा सम्मुख हो तभी तो उसके दर्शन हो सकते हैं, उसको वन्दन किया जा सकता है किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या परमात्मा के दर्शन इन चर्म चक्षुओ से सम्भव है ? स्वय तीर्थङ्कर के सम्मुख होने पर भी उनके दर्शन इस तरह नही किये जा सकते । उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

"न हु जिरण अज्ज दिस्सई"

भगवान् महावीर स्वय बैठे हुए हैं और गौतम से कह रहे हैं, हे गौतम ! तुम्हे आज जिन नही दिखाई देते । यह बडी गहन बात है । भगवान् महावीर स्वय बैठे हुए हैं और यह कहते हैं कि तुम्हे जिन नही दिखाई देते इसका अर्थ क्या ? यही कि चर्म चक्षुओ से दीखने वाला परमाणुओं का स्कधमात्र है । जिनत्व का जो स्वरूप है वह जिन बने विना नही दीखता । अत: उन्होने कहा कि जिन बने विना जो स्वरूप देखते हो, वह जिन नहीं किन्तु अन्य दीखता है । कई लोग कहते है—चलो भगवान् के दर्शन करने चलें किन्तु वह भगवान् के आत्मिक स्वरूप नही, शारीरिक रूप की भी मूर्ति प्रतिकृति मात्र है । जब कि महावीर का कथन है कि स्वय भगवान् समक्ष उपस्थित हो फिर भी दिव्य ज्ञान चक्षुओ के विना इन चर्म चक्षुओ से उनके दर्शन नही हो सकते तो फिर मूर्ति के दर्शनो से क्या होगा ?

दूसरी बात है वह भगवान् कहां है ? जिसके हम दर्शन करें। वह भगवान् और कहीं नहीं है, आपके ही हृदय के अन्दर विराजमान है। कहा है—

देह देवालय प्रोक्त, जीवो देव सनातन ।
त्यजेद ज्ञान निर्माल्य सोऽह भावेन पूज्येत् ॥

भगवान् जिस मन्दिर मे रहते हैं, वह मन्दिर हमारी ही देह है और उसमे रहा हुआ चिदानन्द आत्मा ही सनातन देव है। यह अज्ञान के कारण ही अपने स्वरूप को भूल चुका है। इसलिए इस अज्ञान को छोडो और "मैं ही भगवान् हूँ।" इस निष्ठा से अपनी आत्मा का ही समादर करो—भगवान् का पता अवश्य लग जायगा।

इस विवरण से मैंने यह कहना चाहा कि भगवान् कोई अलग वस्तु-स्थिति नही, वह तो एक स्वरूप है, अनुभाव है जिसके दर्शन अपनी ही आत्मा की उच्चता के साथ अपने ही दिव्य चक्षुओ से किया जा सकता है। अब जैन-धर्म मे ईश्वरवाद का स्वरूप किए ढग से वर्णित किया गया है, उसकी सूक्ष्मता पर प्रकाश डालने के पूर्व एक शका का स्पष्टीकरण करना चाहता हूं कि ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने वाले दर्शनो के सम्बन्ध मे जैनधर्म की मान्यता क्या है ?

कई दर्शन ऐसे है जो ईश्वर को इस सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर ने ही जीवो को बनाया और ससार की समस्त दृष्टिगत वस्तुओ की रचना की। इसके बाद भी ईश्वर इनकी पालना करता है, इनका विनाश करता है और नवीन रचनाएँ करता रहता है। ईश्वर की इच्छा के बिना पेड का एक पत्ता भी नही हिलता तथा उसके चलाये ही हर पदार्थ गति करता है। इस मान्यता का निष्कर्ष यह हुआ कि ईश्वर, ईश्वर है जो हमेशा एक व नित्य रूप से ईश्वर ही रहता है तथा अन्य जीव, जीव है जो कभी भी ईश्वर का रूप नही ग्रहण कर सकते, अर्थात् जीव कभी भी अपना विकास कर भगवान् नही बन सकता और भावना सदैव सूत्रधार की तरह इन सब चीजो का निर्माण, पोषण व विनाश करता रहकर क्रीडा व आनन्द करता है। सूत्रधार अपना नाटक खेलकर जिस प्रकार उन पात्रो को समाप्त

कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इन सब जीवो को क्रीडा कराकर निश्चित अवधि पर समाप्त कर देता है। परन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर, ईश्वर नहीं रहता। यह तो बच्चो के खिलौने की तरह कल्पना कर ली है। जैन दर्शन ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार नही मानता।

आज प्रात मैं बाहर जाकर आ रहा था कि एक भाई मिले। बातचीत के दौरान मे उन्होने पूछा कि आज किस विषय पर व्याख्यान होगा। मैंने कहा कि मैं हमेशा ईश्वर प्रार्थना बोलता हूँ सो आज पूरा व्याख्यान ही ईश्वर-प्रार्थना पर होगा। वे बोले—जैन और बौद्ध तो ईश्वर को मानते ही नही, फिर आप ईश्वर प्रार्थना के विषय मे व्याख्यान कैसे देगे ? वे भाई ही क्या, दूसरे कई दार्शनिक भी जैनधर्म के तत्व को नही समझने के कारण कह देते हैं कि जैनधर्म अनीश्वरवादी है, अत नास्तिक है।

जिन लोगो ने ईश्वर को कुम्हार की तरह एकान्त रूप से कर्त्ता मान लिया है और राजा की तरह उसे नियन्ता मान लिया है, वे अपनी इच्छानुसार ईश्वर की कल्पना मानने वाले को ही ईश्वरवादी और आस्तिक समझते हैं एव अन्य लोगो को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहते हैं। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर जैनधर्म को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहा जाता है, पर वे यह नही समझते कि जैनो के २४ तीर्थङ्कर हुए हैं तथा उनके नमस्कार मन्त्र मे पहले और दूसरे पद पर जिन अरिहत और सिद्धो को नमस्कार किया गया है वे ईश्वर ही हैं।

जैनधर्म मे ईश्वर की जो परिभाषा दी गई है, वही अनुभव के धरातल पर सिद्ध और तर्क की कसौटी पर सत्य ठहरती है। ईश्वर के सत्य स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वादी व नयात्मक दृष्टिकोण से जैनधर्म मे ईश्वर तीन प्रकार के माने गये हैं याकि ईश्वरत्व को तीन रूपो मे देखा गया है।

ईश्वर के वे तीन प्रकार इस तरह माने गये है—(१) सिद्ध, (२) मुक्त और (३) बद्ध।

सिद्ध ईश्वर का स्वरूप निरंजन, निराकार, निरामय, ज्योति स्वरूप माना गया है। आचारांग सूत्र मे सिद्धस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। जिनके

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सहनन, सठान आदि नही हैं व जिनके कोई लिंग नही है— वे सिद्ध हैं। उनके न राग है, न द्वेष। किसी प्रकार का कर्म फल जिनके संलग्न नही है। उन्होने आत्म-स्वरूप की उज्ज्वलता के बाधक अष्टकर्मों को नष्ट कर दिया है और जो शुद्ध आत्म-स्वरूप मे स्थित हो गये है। सिद्ध शब्द का शब्दार्थ भी यही है—सिज् बन्धने एव ध्या अग्निसयोगे धातुओ से यह शब्द बना है जिसका अर्थ होता है कि प्रकृति के समस्त बन्धनो को नष्ट करने वाले। इस प्रकार जैनधर्म मे सिद्ध ईश्वर उन आत्माओ को माना गया है जो अपने स्वरूप की परमोज्ज्वलता को प्राप्त कर ससार से समस्त बन्धनो से विमुक्त हो निराकार आदि निर्बन्ध रूप मे प्रतिष्ठित हो गई है। उन आत्माओ का ससार से कोई सम्बन्ध नही रहता, वे ससार की किसी भी प्रवृत्ति को प्रेरित नही करती।

दूसरा प्रकार है मुक्त ईश्वर का। मुक्त ईश्वर वे आत्माएँ हैं जिन्होने शरीरो मे रहते हुए अपने समस्त विकारो के कलुष को धो डाला है। काम, क्रोध का जिनमे अश भी नही है—राग द्वेष की भावना को समूल नष्ट कर दिया है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय कर्मों को क्षय करके जिन्होने अपनी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त शक्ति को प्रकटित कर दिया है। ऐसे महापुरुष जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं तथा स्वस्वरूप मे रमण करते है, वे मुक्त ईश्वर हैं या जिन्हे जीवन मुक्त कह दें। भगवान् महावीर आदि तीर्थङ्कर इसी भूमिका पर थे। नमस्कार मन्त्र मे पहले पद पर जिन अरिहतो को नमस्कार किया है वे हैं मुक्त ईश्वर और दूसरे पद पर जिनको नमस्कार किया गया है वे है सिद्ध ईश्वर। सिद्ध ईश्वर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले भी मुक्त ईश्वर ही है अत. उनका पद पहला रखा गया है।

तीसरे, बद्ध ईश्वर ससार की समस्त आत्माएँ हैं जो चार गति चौरासी लाख जीव योनियो मे बिखरी हुई है। बद्ध याने कर्मों से बधा हुआ। ये ससार की समस्त आत्माएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग द्वेष आदि के कारण अपने आत्म स्वरूप को भूली हुई है और आठो प्रकार के कर्मों का बन्ध करती

रहती है। यह बद्ध ईश्वर ही सृष्टि का निर्माण करता है। वृक्ष को बीज मे रहे हुए आत्मा ने ही बनाया है, पानी में रहे हुए जीवात्माओ ने पानी की तरलता का निर्माण किया। आज का विज्ञान भी वनस्पति मे तो जीव स्वीकार कर चुका है किन्तु पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि आदि में नही करता। पानी और वायु मे केवल उन्ही त्रस जीवो को वह मानता है जो दूरवीक्षण यंत्र से देखे जा सकते हैं पर उनके पिड नही मानता। जैन दर्शन मे इन पिंड शरीरो का विस्तृत वर्णन है कि इनमे जीव कैसे हैं और वे जीवात्मा मिलकर पुद्गलो को ग्रहण करते हुए किस प्रकार इन पदार्थों की रचना करते हैं ? हमारे शरीर को भी हमारी आत्मा ने गर्भ मे माता की रसवाहिनी नाड़ी से रस दे देकर बनाया है तो उसी तरह सारे बाह्य जगत् की जो सृटि है—जो मकान, सड़क, रेल मोटर आदि निर्माण कार्यों का जाल बिछा हुआ है वह इन्ही बद्ध आत्माओ की रचना है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीट, पतग, पशु आदि अपने-अपने ढग से ससार के कई पदार्थों की रचना मे योग देते हैं तो मनुष्य ने अपने मस्तिष्क और अपनी बुद्धि से आज के जगत् की विविध दृश्यावलियाँ निर्मित की है। जैन धर्म इस तरह सृष्टि का कर्त्ता, निर्माता वा नियन्ता किसी एक का नित्य वा अधूरे ईश्वर को नही मानता, वह तो इस समस्त क्रिया कलापो का कर्त्ता उन सब आत्माओ को मानता है जो इस संसार मे बद्ध है और अपने एकाकी वा सामूहिक-प्रयासो से सृष्टि की रचना मे योग देते रहते हैं।

और जैन धर्म की सूक्ष्म सिद्धान्त दृष्टि के अनुसार ये सब बद्ध ईश्वर की तरह निश्चय दृष्टि मे शुद्ध स्वरूपी हैं किन्तु तैजस कामर्ण शरीर से बधा हुआ होकर अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ है। जैन दर्शन की इस मान्यता के पीछे आत्माओ को अपने विकास के लिए प्रेरणा का अदभुत स्रोत बह रहा है। यह नही कि आत्मा सिर्फ ईश्वर की छाया है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही, बल्कि सभी आत्माएँ पूर्ण विलग व स्वतन्त्र हैं तथा उन सब बद्ध आत्माओ मे ईश्वरत्व छिपा पडा है। वे सब शक्ति धारिणी हैं, आवश्यकता है कि वे अपनी आत्माओ पर लगे कर्म मैल को पूरी तरह धोकर

अपनी शक्ति को चमका दे। संयम और साधना का पुरुषार्थ करते हुए ये बद्ध ईश्वर ही मुक्त ईश्वर हो जाते हैं और शरीर के अन्तिम बन्धनों को छोड़कर ये ही सिद्ध ईश्वर के चरम स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर भी पहिले बद्ध ईश्वर थे फिर त्याग व तपश्चर्या से अपना विकास साधते हुए मुक्त ईश्वर हुए तथा उसके बाद सिद्ध ईश्वर हो गये ज्योतिस्वरूप निर्मल।

जैन धर्म का जो यह ईश्वरवाद है, वह बड़ा गूढ है और उसमे स्वय कर्तृत्व की एक उदात्त भावना छिपी हुई है। बद्ध से लेकर प्रसिद्ध स्थिति तक जो आत्मस्वरूप वर्णित किया है उसका स्पष्ट निष्कर्ष है कि प्रारम्भ से कोई एक ही ईश्वर नही है जो आत्मा सिद्ध होकर ईश्वर हो जाता वे अपनी समस्त ज्ञानादि अनन्त शक्तियो को प्राप्त करके अपने स्वतन्त्र निज स्वरूप रमण मे तल्लीन रहती है और अन्य सिद्ध परमात्माओ की पूर्ण ज्योति के सदृश ज्योतिस्वरूप बन जाती है। तदन्तर उनका ससार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता है फिर कर्त्ता और नियन्ता होने की बात तो कतई दूर है।

ससार को बनाती, बिगाडती या बदलती है ये बद्ध आत्माएं जो जब सत्कार्यो मे प्रवृत्त होती है अधिकतया तब ससार मे जिसे सतयुग कहें या कुछ और नीति और धर्म का युग चलता है और जब इन बद्ध आत्माओ मे विकृतियां बढती हैं तब अनीति और अन्याय का क्रम चलता है। इन बद्ध आत्माओ मे विकास की गति एक ओर ससार मे सामूहिक रूप से अच्छा वातावरण पैदा करती है तो दूसरी ओर इन बद्ध आत्माओ मे से ही जो उच्चतम विकास साध लेती हैं, उन्हें मुक्त और सिद्ध अवस्थाओ की ओर आगे बढाती है।

तो ससार मे रहा हुआ हर बद्ध आत्मा अपने मे एक प्रेरणा का उत्साह ढाल सकता है क्योंकि वास्तविक रूप से वह किसी एक ईश्वर की शक्ति की काठपुतली नही, स्वयं अपने विकास के कर्त्ता, नियन्ता और निर्माता है—पुरुषार्थ करने से अनादि से बद्ध आत्मा भी विकास करते हुए मुक्त

और सिद्ध हो सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि हम भी मुक्त होकर सिद्ध हो सकते हैं और इसीलिए परमात्मा की प्रार्थना व स्तुति की जा रही थी ही—

सुविधि जिनेश्वर वन्दिये हो
वन्दत पाप पुलाय।

अब एक और प्रश्न रह जाता है कि जब सिद्ध या मुक्त कुम्भकार की तरह कर्त्ता नही है और हमारी प्रार्थना व अप्रार्थना मे वह रीझता या रूसता नही है तो फिर उसकी प्रार्थना करने क्या लाभ ?

प्रार्थना के असली महत्त्व को समझने की दृष्टि से यह प्रश्न बडा महत्त्व-पूर्ण है। मैं आपको पूछता हूँ कि आप प्रार्थना क्यो करना चाहते हैं ? सभव है, कई यह समझते होगे कि प्रार्थना करने से भगवान् हमारी मन की इच्छाएँ पूरी करेंगे और उनकी समझ होती है ससार की इच्छाओ के सम्बन्ध मे। मतलब कि भगवान् की प्रार्थना करेंगे। तो धन, परिवार या कि उपयोग आदि की दृष्टि से उनका सुख बढ़ेगा और इस सम्बन्ध मे कोई कष्ट आवेगा ही नही या आवेगा तो भगवान् उसे दूर कर देगे। अथवा प्रार्थना से प्रभु प्रसन्न रहेगे और भक्त जन पर अपनी कृपा बरसाते ही रहेगे कि वह किन्ही कष्टो से पीड़ित न हो।

प्रार्थना करने के सम्बन्ध मे ऐसी भी भावनाएँ कई दर्शनो मे मानी जाती हैं और उसका आधार वही है कि ईश्वर ही संसार मे होने वाले हर कार्य का प्रेरक है। वस्तुतः प्रार्थना या गुणगान ईश्वर को प्रसन्न करने या रिझाने के लिए नही किया जाता। वह ईश्वर तो ससार से अलिप्त है, उसे आपकी प्रार्थना से क्या ? वह प्रार्थना और गुणगान करना है अपनी ही आत्मा के लिए। उनके गुणो का स्मरण करके, उनके विशुद्ध आत्मस्वरूप पर चिन्तन करके हम अपनी आत्मा मे विकास की प्रेरणा जगा सकते हैं और उस स्वरूप को आदर्श मानकर उस दिशा मे गति कर सकते है। इसलिए प्रार्थना व गुणगान से अपनी आत्मा का विकास सभव है। ठीक उसी तरह जिस तरह सूर्य की ऊष्णता से किसान अपनी फसल पकाता है, धान्य की उप-लब्धि करता है किन्तु उस उत्पादन से सूर्य का अपना कोई वास्ता नही

होता। सूर्य अलिप्त है उस फसल से और धान्य से, वह तो किसान की प्राप्ति है, सूर्य उसमे कर्त्ता नही। उसी प्रकार मुक्त और सिद्ध ईश्वर अलिप्त होते हैं, वीतराग होते हैं, किन्तु उनके तेज से यदि बद्ध आत्माएँ प्रेरणा लेकर विकास करना चाहे—आत्मोत्थान की फसल पकाना चाहे तो वे उनके आदर्श को अपने सामने रखकर वैसा कर सकते है।

इसी दृष्टि से प्रार्थना और ईश गुणगान का महत्त्व है। उसका सम्बन्ध किसी सासारिक वासना या कामना से नही है। भगवान् महावीर ने कहा कि जिन होकर जिन को देख सकोगे अत प्रार्थना की एकाग्रता व तल्लीनता हमे भी विरागी होने की प्रेरणा देती है और एक विरागी ही वीतरागी के स्वरूप का यत्किंचित् दर्शन कर सकता है। प्रार्थना केवल वाणी से नही, मन, वचन और काया द्वारा प्रभु के ध्यान मे तल्लीनता लाने से सफल होती है। एक कवि ने कहा है कि—

खुदा से मिला वो खुदा हुआ,
नहीं जुदा हुआ।

आप लोग खुदा का नाम सुनकर चौंके होगे कि यह इस्लाम की क्या बात है ? हम तो अनेकान्तवादी हैं, जहाँ भी सत्याश हो उनको प्रेम से ग्रहण करो और पूर्ण सत्य के दर्शन की चेष्टा करो। खुदा फारसी भाषा का शब्द है। यह शब्द खुदा "खुद आमदन" से बना है जिसका अर्थ होता है स्वयं आया हुआ। आत्मा बना हुआ नही है क्योकि जो बनता है वह नष्ट भी हो जाता है। जैसे मकान, कपडा, शरीर आदि बनते हैं तो नष्ट हुए देखे जाते हैं, लेकिन आत्मा बना हुआ नही है अत. खुदा है। अब जो खुदा से मिला, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप मे रमण किया, वह खुदा बन गया, परमात्मा हो गया और जब वह आत्मा एक बार परमात्मा हो गया तो फिर उस ईश्वरत्व से वह कभी जुदा होने वाला नही है। एक बार ईश्वरत्व, सिद्धत्व प्राप्त करने पर आत्मा पुन. कभी ससार मे नही लौटता, वह वही अनन्त आनन्द मे लीन रहता है।

इसलिए शुद्ध विचारणा व शुद्ध भावना से ईश्वर की प्रार्थना करना

साधन है, साध्य नही। साध्य तो सिद्ध ईश्वरत्व प्राप्त करना है। प्रार्थना मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सत्पुरुषार्थ स्पष्ट होते है तथा इन सत्पुरुषार्थों को आत्मा के पराक्रम से साध लेने पर विकार नष्ट होते हैं और विकास उपलब्ध होता है। जैसे गुरू के पास विद्याध्ययन करने से ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होता है और आत्मा का गुण-ज्ञान प्रकट होता है। स्वर्ण के विकार को जैसे अग्नि के ताप से नष्ट किया जाता है वैसे ही आत्मा के विकार इन सत्पुरुषार्थों की साधना से गलते और जलते चले जाते हैं।

शास्त्रो में आत्मोत्थान के जितने भी साधन बताये हैं, उनका मूल उद्देश्य पुद्गलो के मोह को दूर करना और अपनी ही आत्मा मे रहे हुए ईश्वरत्व को पहचानना तथा प्रकटाना है। जड पदार्थों से मोह और परिग्रह से ममत्व हटता है तो आत्मा का स्परूप उज्ज्वल होने लगता है। इस स्वरूप को उस चरम स्थिति पर विकसा देने का नाम ही मुक्ति है, वे ही मुक्त ईश्वर हो जाते है। मुक्ति इसी देह मे, इसी ससार मे साधी जा सकती है। आवश्यकता है कि इन पुद्गलो का मोह दूर हटाया जाय। इन पुद्गलो की भयंकरता पर एक कवि ने इस तरह प्रकाश डाला है—

पुद्गल दे दे धक्का, तूने मुझको खूब रुलाया रे। ध्रुव।
षड्द्रव्यन में तू और मैं, दोनो ही हैं बलवान।
तूने मुझको ऐसा बनाया, मै भूल गया स्वभाव ॥१॥
यद्यपि मै हूँ सिद्धस्वरूप, तू अचेतन भाव।
तुझ जड़ से मै ऐसा बँधिया खोया चेतन नांव ॥२॥

ससार की चारो गतियो मे भ्रमण कराने वाला यह पुद्गल मोह ही है। कवि ने तो सब बोझ पुद्गलो पर डाला है पर वास्तव मे आत्मा का अपने स्वरूप को भूलकर इन पुद्गलो मे आसक्त होना ही अपना पतन कराना है। इस कठिन विषय को मैं एक दृष्टान्त के रूप में सरल विधि से कहना चाहता हूँ, ताकि बहिनें और बच्चे भी इसको आसानी से समझ लें।

एक गाँव मे एक महाजन के चार लडकियाँ थी। वह उन सबकी शादी कर चुका था। एक बार चारो जामाता ससुराल मे आये। महाजन ने चारों

का रस्म के मुताबिक खूब सत्कार किया। किन्तु रोज ससुराल मे पकवान खाते हुए वे चारो वहाँ टिक ही गये। महाजन उनकी सेवा-सत्कार से घबराने लगा लेकिन मुंह से जाने को किस प्रकार कहे, इस विचार से उसने तरकीव करनी शुरू की। उसने पक्कवान्न बन्द करके बाजरे का खीच और घी देना शुरू किया तो बडा जामाता समझ गया कि यह रवाना हो जाने का संकेत है। उसने प्रस्थान करने की स्वीकृति माँगी और दिखावे की मनुहार के बाद विदा हुआ।

किन्तु तीनो जामाता तो खीच, घी का आनन्द ही लूटने लगे और जमे रहे तो महाजन ने घी की जगह तेल शुरू कर दिया। इस पर दूसरे जामाता से भी विदा ली। लेकिन बाकी दो तो फिर भी टिके रहे। तब महाजन ने कहा कि उनके पलग, गद्दे वगैरह धूप मे देना है सो वे सब मँगवा लिए और उन्हे सोने के लिए खाली दरियाँ दे दी। इस हरकत पर तीसरा जामाता भी विदा कर गया लेकिन चौथा जामाता फिर भी बेशर्म बना रहा तो महाजन ने एक और तरकीब की। दिखावे के रूप मे महाजन अपने बेटे से लडने लगा तो जामाता बीच-बचाव करने छुड़ाने गये तो दोनो ने मिलकर उनकी अच्छी पूजा कर दी। आखिर तब चौथा जामाता भी घर गया।

यह दृष्टान्त मिलता है अपने ही जीवन की चारो अवस्थाओ से। हमारा घर है मुक्ति-सिद्ध स्वरूप स्थिति और यहाँ माया से जुड़कर संसार के ससुराल मे पडे हुए हैं जिसे ससम्मान छोड देने मे ही आत्मा का कल्याण है। आत्मा स्वय ईश्वर रूप है किन्तु उस समय प्रच्छन्न रूप को निखार देने के लिए जरूरी है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र के मार्ग की आराधना की जाय और कर्म मैल को काटा जाय जिससे यही आत्मा-परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट रूप ग्रहण कर सके।

एक अपेक्षा से जैनधर्म ईश्वरवादी नही है किन्तु दूसरी अपेक्षा से ईश्वरवादी है भी सही। एक ईश्वर है और वह कर्त्ता है। ऐसी मान्यता में हम सत्य नहीं देखते हैं किन्तु हर आत्मा मे ईश्वर का रूप विद्यमान है जिसे चरम प्रगति के बिन्दु तक उठा देने पर वह रूप प्रकाशित हो जाता है। एक

बार आत्मा के सिद्ध-बुद्ध होने पर उसका ससार से किसी भी रूप मे कोई सम्बन्ध नही रहता।

और जैन दर्शन की इस मान्यता के मूल मे रही हुई है कर्मण्यता की भावना और समानता का सन्देश। हर आत्मा बराबर है अपनी शक्ति और अपने स्वरूप की दृष्टि से किन्तु उस शक्ति और स्वरूप की प्राप्ति होती है एक कठिन साधना के बाद। इसलिए यह मान्यता प्रेरणा जगाती है कि हर आत्मा अपने उत्थान के लिए पराक्रम करे, कर्म बाधाओ को काटकर मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़े। हम भी यह मान्यता हृदयगम करते हुए मुक्ति पथ पर अग्रसर हो, यही मेरी कामना है।

सब्जी मण्डी, दिल्ली २५-३-१९५१

जैन सिद्धान्तों में सामाजिकता

यह भगवान महावीर की प्रार्थना है। भगवान महावीर का जन्म ढाई हजार वर्ष पहले उस समय हुआ था जब चारो ओर घोर हिंसामय विकृतियाँ छाई हुई थी। पुरोहितो ने धर्म पर ठेका जमा लिया था तथा ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध कराने के वे ठेकेदार बन गये थे। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर समाज मे फूट, कलह तथा पारस्परिक विद्वेष की भावनाएं प्रबल रूप धारण की हुई थी। छुआछूत के झूठे झगडे पूरी मात्रा मे चल रहे थे और ऊँच-नीच का भेद कटु और वीभत्स हो रहा था। धर्म के नाम पर यज्ञो मे घोडे और मनुष्यो तक की बलि दी जाती थी और उसे हिंसा नही कहा जाता था। इस तरह अमानवीय लीला के उस वातावरण मे भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

और जहाँ ज्यादा विकृति फैल रही हो, महापुरुषत्व भी उसी मे प्रकट होता है कि अन्धकार मे प्रकाश की ज्योति जगाई जाय। फिर महावीर तो युग पुरुष थे। उन्होने समाज मे नई समानता की भावना का विकास किया। यद्यपि उन्होने जिस जैन शासन को प्रदीप्त किया, उसका मुख्य मार्ग निवृत्ति मार्ग है अर्थात् सासारिक प्रपचो से जितनी मात्रा मे निवृत्त हुआ जा सके, होकर आत्मा को मुक्ति मार्ग की ओर आगे बढाया जाय। प्रत्यक्ष लक्ष्य साफ था लेकिन निवृत्ति की भावना हो ससार के प्राणियो मे कब पैदा होगी, इस प्रश्न पर महावीर ने गम्भीरता से सोचा और उस विकृत्तियो से भरे युग मे उन्होने एक-एक विकृति को चुन-चुनकर मानव हृदयो मे से काटा व एक नये आस्थावान् वातावरण का सर्जन किया।

यह निश्चय है कि जब तक सासारिक क्षेत्र मे ही एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नही होगी, समाज मे परस्पर व्यवहार की रीति-नीति समान व सम्यक् नही बनेगी तो निवृत्ति के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति भ

साधारण रूप से पैदा नही हो सकेगी । इसलिए समाज मे समान और सम्यक् वातावरण पैदा हो तथा सामाजिकता की भावना का प्रसार हो, यह निवृत्ति के प्रत्यक्ष लक्ष्य का परोक्ष साधन माना गया । क्योकि यह ससार में प्रवृत्ति कराने की बात नही थी वरना सामाजिक सुधार द्वारा निवृत्ति के लक्ष्य को मस्तिष्को मे स्पष्ट कराने का अथक प्रयास था ।

यही कारण है कि उस अमानवीय युग मे श्री महावीर ने जो समान मानवता का अलख जगाया और नया जागरण पैदा किया वही महावीर का प्रमुख महावीरत्व है ।

मैं अभी आपको विस्तार से बताऊँगा कि महावीर के सिद्धान्तों में किस तरह समानता का अनुभाव कूट-कूटकर भरा है और ऐसा लगता है कि इस तरह एक लक्ष्य के लिए महावीर ने चतुर्मुखी प्रयास किये । एक दृष्टि से उन्होने यह सिद्ध किया कि सारे प्राणी एक समान हैं, एक समान शक्ति के धारक हैं और समान सम्मान के अधिकारी हैं और इसी धारणा को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उन्होने न सिर्फ तत्कालीन समाज मे ही एक क्रान्ति की, बल्कि क्रान्ति की बलवती ध्वनि को युग-युगों के लिए गुंजायमान कर गये । जैन सिद्धान्तों मे सामाजिकता की प्रभावशाली प्रेरणा भरी होने की यही मुख्य पृष्ठ-भूमिका है ।

सबसे पहले जैन सिद्धान्तो मे आध्यात्मिक दृष्टि से यह बताया गया है कि निश्चय नय से सभी आत्माएँ समान हैं । सभी अपना समान सर्वोच्च विकास साध सकती हैं और सभी आत्माओ मे अनन्त शक्ति विद्यमान है । अनन्त आत्माएं हैं उन सब का एक ही लक्षण है और जो भेद दृष्टि है वह सिर्फ कर्मों के कारण ही है । ये कर्म भी इन्ही आत्माओ की उपज होते हैं । आत्माएँ ही स्वयं कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं, इस व्यापार मे वे किसी भी अन्य शक्ति द्वारा प्रतिबन्धित नही होती । जैन मान्यता ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता इसीलिए नही माना है कि यह सिद्धान्त आत्माओ में भेद करता है और ईश्वरत्व को आत्मा के सर्वोच्च विकास से अलग मानता है जो समानता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित व अग्राह्य है । प्राणीमात्र को

हमारे यहाँ विकास की दृष्टि से पाँच भागो मे बांटा गया है, एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक और मनुष्य पचेन्द्रियो मे श्रेष्ठ प्राणी है। इस मूल आध्यात्मिक धारणा को पुष्ट करते हैं जैनों के अहिंसा और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त जो आचार और विचार की दृष्टि से मनुष्य मे एकता और समता पैदा करता है।

जब सिद्धान्तो के मूल मे ही मानव समानता का लक्ष्य सामने रखा गया तो वह साफ था कि उसका सुप्रभाव समाज की हर दिशा मे पडता। इसलिए जैनधर्म ने कृत्रिम वर्ण व जाति भेद को सर्वथा तिरस्कृत किया और यह विचार फैलाया कि मनुष्य की समानता के आगे ये सब परम्पराएँ आघातकारी और विघ्नकारी हैं। जैनधर्म जाति या वर्ण के प्रचलित आधारों में विश्वास नही करता। कोई भी व्यक्ति इसलिए बडा या छोटा नही है कि वह अमुक वर्ग या जाति मे पैदा हुआ है।

वर्णवाद को गम्भीर चुनौती देते हुए महावीर ने उद्घोष किया कि वर्ण से कोई क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र माना भी जाय तो उसका आधार उनके द्वारा किये जाने वाले कर्म ही होगे। यदि कोई वर्ण से ब्राह्मण है और कर्म शूद्र के करता है तो जैन सिद्धान्त उसे ब्राह्मण मानने को तैयार नही, वह शूद्र की ही श्रेणी मे गिना जायगा। इसी तरह जाति या कुलो की ऊँच नीचता भी मनुष्यो की ऊँच-नीचता नही हो सकती। महावीर ने खुले तौर पर वर्ण, जाति और कुलो के भेद-भावो के आधार पर खडे हुए समाज को ललकारा और उसे सर्व समानता का नवीन आधार प्रदान किया।

उन्होने कहा कि धर्म किसी का तिरस्कार करना नही सिखाता, भेद भाव की रीतियों नही गढता। आत्माएँ सब एक है, मनुष्य एक हैं तो उनमें कर्म के अलावा भेदभाव कौन सा? जाति-पाँति या कि छुआछूत, ये सब अमानुषिक भेदभाव है। सभी मनुष्यो के एक सी इन्द्रियां हैं, विवेक और अनुभव की दृष्टि है, हो सकता है कि वातावरण के अनुसार इन शक्तियों के विकास मे अन्तर हो, किन्तु उनकी मूल स्थिति मे जब कोई भेदभाव नहीं है तो कोई कारण नही कि एक कुल या जाति मे जन्म लेने से एक मनुष्य

तो पूजनीय और प्रधान का पात्र हो जायगा और दूसरा जन्म लेने मात्र से ही नीच, अधर्म और अनादर का भाजन हो जायगा।

सच पूछा जाय तो यह परम्परा बनाई धर्म के उन ठेकेदारो ने जो धर्म को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने लगे थे। ब्राह्मणो का उच्च वर्ग इसलिए माना गया कि वे साधनारत होकर ज्ञान का पठन-पाठन करते किन्तु वे तो आचरण के धरातल को छोडकर वर्ण के आधार पर ही अपने-आपको बडा समझने लगे। इसी प्रकार क्षत्रियो व वैश्यो का भी समाज रक्षा व पालन का जो कर्त्तव्य था, वह भी कमजोर हो गया। अब इन तीनो वर्गो के दंभ का सारा बोझ गिर पडा शूद्रो पर, जिनके कर्तव्य तो तीनो वर्णों की हर प्रकार की सेवा के थे मगर अधिकार कुछ नही और आश्चर्य तो इस बात का कि धर्म के क्षेत्र मे भी वे निरीह बना दिये गये। धर्मस्थान मे जाने का उनको अधिकार नही, धर्मग्रथ पढने के वे योग्य नही और धर्म-गुरुओ का उपदेश भी वे नही सुन सकते। एक तरह से सामाजिक अन्याय की हद हो गई थी और यह हद इतनी नफरत-भरी थी कि चांडाल और मेहतर वगैरा को छुआ नही जा सकता। छूने से उच्च वर्णों का धर्म भ्रष्ट हो जाता। एक मनुष्य पशु को छूता था लेकिन अपने जैसे ही मनुष्य को छूना पाप था।

और आज भी वही घृणित परम्परा चल रही है, छूआछूत की बीमारी गांधीजी के सत्प्रयासो के बाद भी घर करे बैठी हुई है। अग्रेजी फैशन मे पडे लोग कुत्तो को गोद में लेकर बैठेंगे, मगर हरिजन को नही छुएँगे। मनुष्यता का इससे अधिक पतन क्या हो सकता है कि मनुष्य मनुष्य का इतना वीभत्स अनादर करे? और जब आप यह सोचेंगे कि हरिजन का ऐसा अनादर क्यो होता चला आ रहा है तो मेरा विचार है कि लज्जा से सिर झुक जायगा। इसीलिए तो उनका अनादर है कि वे आप लोगो का मैला अपने सिर पर उठाकर ले जाते हैं, जबकि सेवा का इससे बडा उदार क्या काम हो सकता है। माता होती है, बड़ी खुशी से अपने बालक की विष्टा साफ करती है, क्या आप उससे घृणा करोगे? उसकी ममता पूजी जाती है तो फिर हरि-

जन के साथ ऐसा अन्याय क्यों कि छुआछूत की प्रथा चलाई जाय ? इसी छुआछूत ने हरिजनों के संस्कारों को गिराया है और उनके जीवन में आचरण की विकृतियाँ पैदा की है। आज जब उन्हें समाज में समान दर्जा मिलने लगेगा तो स्वयमेव उनके जीवन में भी विकास होने लगेगा।

तो महावीर ने इस छुआछूत को भी बुनियाद से हिलाया था। धर्म का आचरण जो भी करेगा, वह ऊँचा चढ़ेगा। उसमें कोई भेदभाव नहीं कि चाडाल, श्रावक या साधु धर्म का आचरण न कर सके। जैन धर्म में यों तो कई हरिजन या चाडाल हुए होंगे किन्तु चाडाल मुनि हरिकेशी बड़े प्रतापी हुए हैं यद्यपि हरिकेशी प्रत्येक बुद्ध थे, वे स्वयं प्रतिबोध पाये। स्वयं ही दीक्षित हुए। और गण व गुरु किसी की भी सहायता न लेते हुए साधना क्षेत्र में आगे बढ़े व चरम विकास कर मोक्षगामी हुए। अतः उनकी वह अवस्था हमारे लिए आदर्श उपस्थित करती है।

जैन धर्म ने जाति, वर्ण व कुल के भेदभावों की जगह मानव समता ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र की समता की स्थापना की और गुण पूजा तथा आचरण को महत्ता प्रदान की। इस तथ्य का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान और आचरण का विकास करके अपने जीवन में प्रगति लाने का प्रयास करे और जो इन श्रेणियों में ऊपर चढ़ता जायगा वही अपने गुणों की दृष्टि से ऊँचा होता जायगा। यह धारणा है जिसमें हर प्राणी में विकास का एक उत्साह जागता है और हीन मान्यता पैदा नहीं होती। समाज में आध्यात्मिक व व्यवहारिक समता पैदा करने का महावीर का यह अनुपम उपदेश था।

पुरुषों और स्त्रियों की विकास क्षमता में भी जैन धर्म कोई भेद नहीं करता क्योंकि आत्म-विकास में लैंगिक भेद की भी कोई बाधा नहीं होती। समादर की दृष्टि से भी हमारे यहाँ दोनों में भेद नहीं होती क्योंकि समादर की बुनियाद हमारे यहाँ साधना और गुणों पर है। आप पुरुष होते हुए भी साध्वियों की वन्दना करते ही है, क्योंकि स्त्री होते हुए भी साधना और गुणों में वे आप श्रावकों से ऊँची होती है। वास्तव में देखा जाय तो जैन-

सिद्धान्त मनुष्यो के बीच किसी भी प्रकार के भेदभावो को मान्यता नही देते और यही जैन धर्म की सर्वोत्कृष्ट विशेपता है कि वह मानवता का कितना बड़ा सरक्षक व उन्नायक है ?

इस गुणपूजा मे जैन धर्म बाह्यडम्बर को मुख्य नही मानता, मुख्य है व्यक्ति का जीवन स्तर और उसमें प्राप्त किया हुआ आत्मा का विकास महावीर के समवशरण मे मगध के महाराजा श्रेणिक और सकड़ाल कुम्हार का स्थान समान था क्योंकि वह समानता उनके बाह्याडम्बर पर आधारित नही थी। वह समानता उनके आन्तरिक विकास की स्थिति को जताती थी। धनिक व ग़रीब का भी कोई अन्तर नही था। आत्म-साधना आनन्द श्रावक ने भी की, जो कोटि-कोटि सम्पत्ति का स्वामी था और उसी श्रेणी की आत्म-साधना पूणिया श्रावक ने भी की जिसके घर मे एक समय का पूरा अन्न भी नही था, किन्तु बारह उच्च श्रावको की पात मे दोनो के सम्माननीय स्थान मे कोई अन्तर नही था।

आज भी आप लोग देखते हैं कि समाज मे धनिक और गरीब की स्थिति मे बड़ी विषमता पाई जाती है। प्रतिष्ठा और सामाजिक सम्मान का प्रतीक धन अधिक बन गया है और गुणो का स्थान कम महत्वपूर्ण हो गया है, यह स्थिति जैन सिद्धान्तो की दृष्टि से उचित नही मानी जा सकती। इस विषमता पर आघात करने के लिए ही जैन दर्शन का अपरिग्रहवाद महावीर ने सम्मुख रखा। समाज मे यदि श्रावक धन सम्पत्ति व उपभोग-परिभोग की समस्त सामग्रियो के उपयोग की मर्यादा बांध लें और उसमे अपने ममत्व को कम करते जावें, स्वामित्व को छोडते जावें तो ज़रूरी है कि समाज की सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक हाथो मे विकेन्द्रीकरण होता जायगा और समाज मे जब दु.ख और विषमता घटेगी तो यह कल्पना आसानी से की जा सकती है कि उस समय समाज मे रही हुई असमानता व अनीति भी घटेगी। इसीलिए अपरिग्रहवाद का सामाजिक पहलू यह है कि वह परिग्रह के दंभ को हटाकर सामाजिक समानता का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसके साथ ही श्रावक व साधु धर्म मे जिस प्रकार हिंसा का निपेध

किया गया है, वह समाज मे एक उदार संस्कृति का प्रसारक है व प्रतिशोध की भावनाओ का शमन करता है। जैन धर्म अहिंसा प्रधान है लेकिन हिंसा और अन्याय में टक्कर हो जाय तो अन्याय को सहन करना गलत माना गया है। श्रावक चेटा महाराजा का दृष्टान्त आप जानते है कि न्याय की रक्षा के लिए उन्होने भयकर युद्ध किया किन्तु फिर भी वे अपने श्रावकत्व से स्खलित नही समझे गये। समाज मे समानता तभी फैलेगी जब न्याय बुद्धि बनी रहेगी, वरना अगर अन्याय करने पर ही शक्तिधारी मनुष्य तुल जायँगे तो वे समानता की रक्षा भी कतई नही करेगे।

इस तरह जैन सिद्धान्तो की जो गति है वह निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की है, प्रवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की नही। निवृत्ति का प्रसार उसी समाज मे हो सकेगा जिसमे गुणो और आचरण की पूजा होती होगी। किन्तु जब तक ऐसा स्वस्थ समाज बनेगा नही तो यह भी सम्भव नही हो सकता कि निवृत्ति का व्यापक प्रसार हो सके। 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा' हमारे यहाँ कहा गया है कि शूरता पहले पैदा होनी चाहिए और वह जब कर्म मे पैदा होगी तो धर्म मे भी पैदा होगी। धर्म का आचरण तभी शुद्ध बन सकेगा जब समाज का व्यवहार शुद्ध होगा और समानता के जो स्रोत जैन सिद्धान्तो के अनुसार मैने ऊपर बताये है, वे ही सशक्त साधन हैं जिनके आधार पर समाज के व्यवहार का शुद्धि करण किया जा सकता है।

भारत देश कहने को तो धर्म प्रधान है पर आज दिशा किधर को है, यह समझने की बड़ी आवश्यकता है। क्या कोई भी व्रत किसी का तिरस्कार करना सिखाता है ? इसका यही उत्तर है कि, नही। अहिंसा व्रत का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि किसी का मन, वचन या काया किसी से भी तिरस्कार करना हिंसा है, गुण और विकास की दृष्टि को छोड़कर घृणित दृष्टि से छूआछूत के झूठे भेद तथा धन के ओछे भेद से ऊँच-नीच का व्यवहार करना भी हिंसा है। अहिंसक कहलाने वाले जैन बन्धुओ को सोचने की जरूरत है कि वे कीड़ो और मकोड़ो को किलामणा उपजाने मे तो पाप समझते है लेकिन पचेन्द्रिय मनुष्यो को भयकर किलामणा उपजाने

और उनका तिरस्कार करने मे क्यो कोई भी जघन्य कार्य नही समझते, उसे महापाप नही मानते ? किसी काल मे अहकार की भावना ने जाति, वर्ण व कुलगत भेदभावो को जन्म दिया तथा आज अर्थगत भेदभाव जटिल बनते जा रहे हैं किन्तु इन सब भेदभावो मे प्राय: सत्याश कुछ भी नही हैं, यह जैन सिद्धान्तो की दृढ धारणा है, क्योकि ये सब भेदभाव अहकार को पुष्ट करते हैं जो समानता का विरोधी है। "मारगेण अहमागई"—उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि मान से आत्मा अधम गति को पहुँचती है और जब मानव अधमाई की ओर बढता है तो वह सत्य को नही समझ पाता।

भगवान महावीर ने प्राणीमात्र की एकता, समानता और आत्म-सम्मान और निर्वाह का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका ढाई हजार वर्ष पहले कहा गया यह वाक्य आज भी एक नवीन प्रकाश प्रदान कर रहा है कि—

"अप्पसमं मन्येच्छधिकायं।"

छहो काया के समस्त जीवो को अपनी ही आत्मा के समान समझो। कितना विशाल और उदार सिद्धान्त है यह ? पर आज उन वीर प्रभु के उपासको का ही मुख किधर है ? यह सोचें कि आत्मवत् व्यवहार से आपकी कितनी दूरी है ?

आज जैनधर्म के पुनीत सिद्धान्तों की मांग है कि उन पर आचरण किया जाय वरना अनाचरित सिद्धान्तो का कोई महत्त्व नही रह जाता और उनके आचरण का अर्थ होगा कि आप समानता के अनुभाव को हृदय मे जमा लें और समाज के विभिन्न क्षेत्रो में उसका व्यवहारिक प्रयोग करें। जब यह तैयारी आप लोगो की हो जायगी तो मानव के बीच रहे हुए अगुणकृत किसी भी प्रकार के अन्तर को आप सहन न कर सकेंगे चाहे वह अन्तर जाति का वर्ण के भेद पर खडा हो या कि आर्थिक विषम के कगार पर और तभी धर्म का भी स्वस्थ आचरण प्रारम्भ होगा। मानव के मानवोचित सम्यक् कर्त्तव्यो का पुज ही तो धर्म है जो समाज मे बन्धुता और समता की धारा बहाते हुए आत्म-विकास की दिशा मे पराक्रमशाली बनाता है।

जैन-सिद्धान्तो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समाज और

व्यक्ति दोनो किनारो को छूते हैं और समाज की स्वस्थ रीति-नीति पर व्यक्ति के विकास का एव व्यक्ति की तेजस्विता पर समाज के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हैं। दोनो के अन्योन्याश्रित सम्बन्धो से दोनो का विकास साधना चाहते हैं ताकि मनुष्य का निवृत्तिवाद न सिर्फ आत्म-कल्याण के लिए ही आवश्यक बने बल्कि वह मनुष्य की विकसित होती हुई सामाजिकता के लिए भी आवश्यक हो। सजग सामाजिकता आत्म-कल्याण की ज्योति जगाए यही जैन-सिद्धान्तो का सन्देश है।

जैन मन्दिर, शाहदरा, दिल्ली प्रथम आषाढ़ कृष्णा २ स० २००७